भारतीय संस्कृति की रूप-रेखा

लेखक—

श्री गुलाबराय, एम० ए०

पुस्तक मिलने का पता—
साहित्य भवन लिमिटेड
इलाहाबाद

प्रकाशक—
साहित्य-प्रकाशन-मन्दिर,
ग्वालियर

प्रकाशक—
रामभरोसेलाल अग्रवाल,
साहित्य प्रकाशन मन्दिर,
हाईकोर्ट रोड, लश्कर, ग्वालियर.

प्रथमावृत्ति
सम्वत् २००६
मूल्य रु० ३)

मुद्रक—
मॉडर्न प्रिंटिंग प्रेस,
ग्वालियर.

आत्म-निवेदन

यद्यपि संस्कृति का क्षेत्र बहुत व्यापक है और उसमें साहित्य, संगीत, कला, धर्म, दर्शन, लोकवार्ता, राजनीति सभी का समावेश होता है, तथापि वह मूल रूप से इतिहास का ही अंग है। इतिहास में अभी तक राजनीति को ही विशेष महत्व दिया जाता रहा है और राजा-महाराजा, वीर सेनानी आदि ही इतिहास के वास्तविक सूत्रधार माने जाते रहे हैं किन्तु किसी देश की वास्तविक समृद्धि और सम्पन्नता उसके साहित्यिकों, विचारकों, कवियों, कलाकारों, जनता की मनोवृत्ति, रहन-सहन, उसकी नैतिक उन्नति, जीवनयापन के स्तर, व्यवसायियों, संस्थाओं, शिक्षा-दीक्षा और सामाजिक तथा राजनीतिक कार्यकर्ताओं आदि पर निर्भर होती है। अब देश के इतिहास-निर्माताओं में राजा-महाराजाओं के साथ कवियों, विचारकों, कलाकारों और जनता जनार्दन को भी स्थान मिलता है। राजनीति की भी तो प्रवर्तक जनता की विचारधारा है। इसलिए अब इतिहास का क्षेत्र विस्तृत होता जा रहा है और राजनीतिक-इतिहास के साथ सांस्कृतिक इतिहास को भी महत्व दिया जाने लगा है। यह परिवर्तित दृष्टिकोण पाठकों को देश के शरीर से नहीं वरन् आत्मा से भी परिचय करा देगा और उनको जन-जीवन का भी निकटतम सम्पर्क करा सकेगा।

'भारत का सांस्कृतिक इतिहास' लिखने के लिए उसके सागर के से विस्तार और गाम्भीर्य को पुस्तक के आकार में बांधने के लिए जितना विविध विषयक ज्ञान अपेक्षित है उतना एक साधारण से मनुष्य में होना असम्भव सा है। इस सम्बन्ध में अपनी सीमाओं का पूर्ण अनुभव रखते हुए भी मैंने भारतीय संस्कृति पर पुस्तक लिखने का जो साहस किया वह कविकुल गुरु कालिदास के 'तितीर्षुर्मोहादुडुपेनास्मि सागरम्' से (अज्ञानवश घड़ों की नाव

के सहारे सागर को पार करने के इच्छुक होना) कहीं अधिक था। (दुस्साहस में तो कालिदास से भी बढ़ा-चढ़ा हो ही सकता हूं) अस्तु मुझे इस महासागर को पार करने के लिए कुछ ऐसे लेखकों का अवलम्बन लेना पड़ा कि जो इस कार्य में मुझसे कुछ अधिक सफल रहे हैं। उनमें से कुछ के नाम तया उनकी कृतियों के नाम इस प्रकार हैं:—श्री रामगोविन्द त्रिवेदी कृत वैदिक साहित्य, श्री चन्द्रशेखर शास्त्री लिखित संस्कृत साहित्य की रूप-रेखा, श्री जयचन्द विद्यालंकार रचित संस्कृत वाङ्मय के अमर रत्न, डाक्टर वेनीप्रसाद प्रणीत हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता, श्री हरिदत्त विद्यालंकार रचित भारत का सांस्कृतिक इतिहास, कल्याण का संस्कृति अंक, श्री रामकृष्ण परमहंस स्मारक ग्रन्थ Culturage Heritage of India Vol. III, श्री नरेन्द्रनाथ लाँ महोदय की Hindu Polity, डाक्टर यदुनाथ सरकार की India through ages, श्रीमती अक्षयकुमारी देवी लिखित The fundamentals of Hindu Sociology, श्री अम्बिकादत्त वाजपेयी लिखित हिन्दू राजस्व, डाक्टर गौरीशंकर हीराचन्द ओझा लिखित मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, डाक्टर श्यामसुन्दर प्रणीत हिन्दी भाषा और साहित्य प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त 'क्वचिदन्यतोऽपि' के साथ रामायण, महाभारत, काव्य, स्मृतियों आदि का चंचुप्रहारी निजी अध्ययन ने कुछ हाथ-पैर पीटने में सहारा दिया। ऊपर जिन महानुभावों की नामावली दी है उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकाशन करना मैं अपना पुनीत कर्तव्य समझता हूं। पाठकगण, विशेषकर विद्यार्थी पाठक विषय के पूर्ण ज्ञान के लिए इन पुस्तकों का यथासमय अध्ययन कर अपने कर्तव्य का पूर्णतया पालन करेंगे।

इतिहास में मौलिकता के लिए विशेष स्थान नहीं रहता। इतिहासकार की कल्पना और मौलिकता सत्य की लौह श्रृंखला से बंधी रहती है, फिर भी उसमें बहुत-कुछ अनुमान और तर्क से काम लिया जाता है। इतिहास में भी कुछ वैज्ञानिक रूढ़ियां बन जाती हैं। सत्य को रुढ़िबद्ध करना उसके उन्मुक्त सौन्दर्य को आघात पहुंचाना है। माता सरस्वती के मन्दिर के द्वार सदा

उन्मुक्त रहना चाहिए। वैज्ञानिक रूढ़ियों के विरुद्ध जो मत अब प्रचार में आ रहे हैं, इस पुस्तक में उनको भी समुचित आदर दिया गया है किन्तु प्रचलित और सम्मान्य मतों से विद्यार्थियों और सम्मान्य पाठकों को अनभिज्ञ नहीं रक्खा गया है। जहां तक हो सका है एक विस्तृत क्षेत्र को इस पुस्तक के घेरे में बांधने का प्रयत्न किया गया है किन्तु पुस्तक के सीमित आकार और अपनी अल्पज्ञता के कारण बहुत से विषयों को छोड़ना पड़ा, उसका मुझे वास्तविक खेद है। उदाहरणतया दक्षिण की कला के साथ दक्षिण के साहित्य का भी परिचय देना चाहिए था, लोकवार्ता, रीति-रिवाज, मेले-तमाशे, रहन-सहन का थोड़ा-बहुत ज्ञान होते हुए इन विषयों के समावेश करने का मोह स्थानाभाव के कारण छोड़ना पड़ा। इसमें इस बात का प्रयत्न किया गया है कि एक साधारणतया विदग्ध पुरुष को अपने देश की संस्कृति के बारे में जितना ज्ञान नितान्त आवश्यक है उतना दिया जा सके। संस्कृत साहित्य के नम्बन्ध में हमारे विद्यार्थियों को बहुत कम ज्ञान रहता है, उसको दिग्दर्शन कराने के साथ उसमें पाये जाने वाले सांस्कृतिक तत्वों को प्रकाश मे लाने का प्रयत्न किया गया है। इसी प्रकार भारतीय कला के सम्बन्ध में भी दिशा निर्देश किया गया है। कुछ कलाकृतियों के चित्र भी दिये गये हैं। संस्कृत साहित्य पर आधारित तथ्यों की पुष्टि के लिए उपयुक्त उदाहरण भी दिये गये हैं। इसमें इतिहास के विद्यार्थी को साहित्य से जितना सीधा सम्पर्क स्थापित करने की आवश्यकता है उस सम्पर्क को उपस्थित करने का प्रयत्न किया गया है। पुस्तक में जो तथ्य सामने रखे गये हैं वे साहित्यिकता के साथ उनको शुष्क वैज्ञानिकता से बचाते हुए रक्खे गये हैं। मैं इस आशा से कि साधारण पाठक और विद्यार्थी इस पुस्तक को अपने मानसिक क्षितिज के विस्तार के लिए अपनायेंगे इसको उनके हाथों में सप्रेम सौंपता हूं।

गोमती-निवास,
दिल्ली दरवाजा, आगरा
दीपावली स० २००६

विनीत—
गुलाबराय

अनुक्रमणिका

—:o:—



वृक्षिका सांची

भारतीय संस्कृति की रूप-रेखा

शब्द का अर्थ:—'संस्कृति' शब्द का सम्बन्ध संस्कार से है जिसका अर्थ है संशोधन करना, उत्तम बनाना, परिष्कार करना। संस्कृत शब्द का भी यही अर्थ है। अंग्रेजी शब्द 'कल्चर' में वही धातु है जो 'एग्रीकल्चर' में है। इसका भी अर्थ 'पैदा करना वा सुधारना' है। संस्कार व्यक्ति के भी होते हैं और जाति के भी। जातीय संस्कारों को ही संस्कृति कहते हैं। भाव-वाचक होने के कारण संस्कृति एक समूह-वाचक शब्द है। जलवायु के अनकूल रहन-सहन की विधियों और विचार-परम्पराओं के, जाति के लोगों में दृढ़ मूल हो जाने से, जाति के संस्कार बन जाते हैं। इनको प्रत्येक व्यक्ति अपनी निजी प्रकृति के अनकूल न्यूनाधिक मात्रा में पैतृक संपत्ति के रूप में प्राप्त करता है। ये संस्कार व्यक्ति के घरेलू जीवन तथा सामाजिक जीवन में परिलक्षित होते हैं। मनुष्य अकेला रहने पर भी इनसे छुटकारा नहीं पा सकता। ये संस्कार दूसरे देश में निवास करने तथा दूसरे देशवासियों के सम्पर्क में आने से कुछ परिवर्तित भी हो सकते हैं; और कभी कभी दब भी जाते हैं। किन्तु अनकूल वातावरण प्राप्त करने पर फिर उभर आते हैं।

धर्म और संस्कृति:—धर्म में भी प्रायः वे ही संस्कार आते हैं जो संस्कृति में हैं। हमारे यहां धर्म व्यापक शब्द है। वह सारे जीवन को शासित करता है। धर्म और संस्कृति में अन्तर केवल इतना ही है कि धर्म में श्रुति, स्मृतियों और पुराण ग्रन्थों का आधार रहता है किन्तु संस्कृति में परम्परा का आधार रहता है। धर्म और संस्कृति का कोई विरोध नहीं है। धर्म देश-निरपेक्ष है किन्तु संस्कृति का सम्बन्ध देश से अधिक है।

मुसलमानों में पृथक रहने की प्रवृत्ति अवश्य है, फिर भी उन्होंने देश की संस्कृति और रीति-रिवाज को बहुत कुछ अपनाया है ।

दो पक्ष:—संस्कृति का बाह्य पक्ष भी होता है और आन्तरिक भी । उसका बाह्य पक्ष आन्तरिक का प्रतिबिम्ब नहीं तो उससे संबंधित अवश्य रहता है । हमारे बाह्य आचार हमारे विचारों और मनोवृत्तियों के परिचायक होते हैं । यद्यपि संस्कृति का मूल आधार मानवता है तथापि देश-विशेष के वातावरण की विशेषता के कारण वह उस देश के नाम से—जैसे भारतीय संस्कृति, ईरानी संस्कृति, अंग्रेजी संस्कृति के नाम से विहित होने लगती है । संस्कृति का एक ही मूल उद्देश्य मानते हुये भी हम यह कह सकते हैं कि संस्कृति देश विशेष की उपज होती है, उसका सम्बन्ध देश के भौतिक वातावरण और उसमें पालित, पोषित एवं परिवर्द्धित विचारों से होता है ।

सँस्कृति और सभ्यता:—संस्कृति के बाह्य पक्ष को ही सभ्यता कहते हैं । सभ्यता मूल अर्थ में तो व्यवहार की साधुता की द्योतक होती है । (सभायां साधवः सभ्याः) किन्तु अर्थ-विस्तार से यह शब्द रहन—सहन की उच्चता तथा सुखमय जीवन व्यतीत करने के साधनों, जैसे कला-कौशल, स्थापत्य, ज्ञान—विज्ञान की उन्नति पर लागू होता है । किन्तु आजकल इस शब्द के प्रयोग में बहुत स्थूलता आ गई है । आजकल तो सभ्यता का माप-दण्ड साबुन या सलफ्यूरिक एसिड की खपत हो गया है। किन्तु बात सोलह आना ऐसी नहीं है । जिस सभ्यता का आधार संस्कृति में नहीं वह सभ्यता सभ्यता नहीं । संस्कृति की आत्मा के बिना सभ्यता का शरीर शव की भांति निष्प्राण रहता है । विनय और शील के बिना कटी—छटी पोषाक, सुसज्जित बंगले, सेण्ट और पाउडर मनुष्य को सभ्य नहीं बना सकते । विनय और शील के बाहरी रूप को ही शिष्टाचार कहते हैं, किन्तु यह भी दिखावामात्र नहीं है । शिष्टाचार का अर्थ है शिष्टों का आचरण, किन्तु इसमें रूढ़ि या परम्परा की भावना लगी रहती है ।

क्रियालुप्त हो जाने के कारण तथा ब्राह्मण-दर्शन के प्रभाव से बाहर हो जाने के कारण आर्यों से बाहर हो गए थे। देखिए :—

शनकैस्तु क्रियालोपादिमा : क्षत्रियजातयः ।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेनच ॥
पौण्ड्रकाश्चौड्र द्रविड़ाः काम्बोजा यवना शकाः ।
पारदा पल्हवाश्चीना किराता दादाखशः ॥
मुखबाहूरूपज्जानां या लोके जातयो वहिः ।
म्लेच्छ्वाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यव स्मृतः ॥

अर्थात् धीरे धीरे क्रिया के लोप होने से ब्राह्मण-शास्त्रों से संपर्क छूट जाने से यह सब क्षत्रिय जातियाँ वृषल तथा दस्यु बन गईं। जैसे पौंड्र, औड्र, द्रविड़, कम्बोज, यवन, शक, दरद, खश आदि चार वर्णों से रहित जो जातियाँ हैं, वे चाहे म्लेच्छ भाषा बोलें, और चाहे आर्य भाषा बोलें सब दस्यु हैं।

मध्य एशिया या यूरोप के लोगों के साथ संस्कृत भाषा की समानता की बात दुधारा तलवार है। यहाँ से भी आर्य लोग उधर जा सकते थे। इस संबंध में निश्चयपूर्वक इदं इत्थं कह देना कुछ कठिन बात है। पाश्चात्य विद्वानों के तर्क को सहसा तो निराधार नहीं ठहराया जा सकता, किन्तु उसके लिए वैज्ञानिक सत्य का आग्रह करना और विपक्ष की बातों को अवैज्ञानिक कहकर उपेक्षा करना एक दूसरा अन्धविश्वास होगा।

२

बाहर की जातियाँ—हम लोग बाहर से आए अथवा भारत के ही सप्त सिन्धु भाग से सब जगह फैले, यह विवादास्पद है किन्तु; हमारे देश की सम्पन्नता ने जिसके लिए देवता भी आकर्षित रहते थे, विदेशियों को आकर्षित अवश्य किया। सबने अपनी भाग्यपरीक्षा की। कुछ तो यूनानियों की भांति यहाँ आए, थोड़े दिन ठहरे और कुछ सांस्कृतिक आदान-प्रदान के

पश्चात् (जैसे गान्धार कला पर यूनानी प्रभाव की बात) दबे पैर लौट गए। वे कुछ दे भी गए और ले भी गए। पैथेगोरस (Pythagorus) आदि यूनानी दार्शनिकों पर भारतीय प्रभाव है। अरबों से भी बहुत कुछ आदान-प्रदान रहा। उनके अंक हिन्दसे कहलाते हैं। हिन्दसा शब्द हिन्द का ऋण स्वीकार करता है। यूरोप में इन्हीं को (Arabic Numericals) कहा जाता है। हमारे यहां उत्तर पश्चिमी दर्रों से ही जन-आयात नहीं हुआ वरन् हमारे समुद्री तट भी जनआयात में उदार रहे हैं। फिनीशियन्स आदि से व्यापारिक सम्बन्ध रहे हैं। हमारे लोग भी उपनिवेश बनाने में पीछे नहीं रहे हैं। सुमात्रा, जावा, बाली, बोरनियो, कोलम्बिया, श्याम आदि द्वीपों में भारतीय संस्कृति की छाप है। वहां रामायण का बहुत प्रभाव है। शक हूंण भी आये और या तो हम में समा गये या भाग गये। उन दिनों हमारी पाचन शक्ति-प्रबल थी। तुर्क और मंगोल जाति के राजाओं नें हिन्दू नाम स्वीकार किये। पारसी लोग यहां शरणार्थी होकर आये और बड़े प्रेम पूर्वक रहे। वे हिन्दू संस्कृति को मानने के लिये गोहत्या से बचते रहे। पीछे से भारतीय लोग अपने जातीय व्यक्तित्व को अक्षुसाण रखने के लिये दूसरों को पचाने में संकोच करने लगे और जाति-पांति का बन्धन कड़ा कर दिया। मुसलमानों ने हिन्दुओं से कुछ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किये, किन्तु उनमें बराबरी की भावना न थी। मुसलमानों ने हमारी संस्कृति को बहुत-कुछ अपनाया और हमने भी उनकी संस्कृति को जहां तक जाति-पांति के बन्धनों में जकड़े रह कर अपना सके अपनाया। सबसे ज्यादा प्रभाव भाषा, शिष्टाचार और कला पर पड़ा। मुसलमानों ने भारत को अपना घर बनाया था। उन्होंने जैसे खुसरो, कबीर, जायसी, कुतबन, रहीम, रसखान ने हिन्दी भाषा को और हिन्दू विचारों को अपनाया था। उनकी रहन-सहन रीति-रिवाज हिन्दुओं से प्रभावित हुए। मुसलमानों की संस्कृति एशियायी संस्कृति होने के कारण हमसे कुछ निकट थी। जैसे आदर में सर झुकाना हिन्दू और मुसलमान

दोनों में एकसा है। मुसलमान लोग नमाज सर ढक कर ही पढ़ते हैं। जूते चाहें उनके चौके में चले जायँ, नमाज के समय उतर जाते हैं। बहुत सी बातों में भारतीय मुसलमान विदेशी मुसलमानों से भिन्न हैं। अधिकांश मुसलमानों को-विशेष कर गांव के मुसलमानों को-जो धर्म परिवर्तन द्वारा मुसलमान हुए हैं, भारतीय जातिगत संस्कार प्राप्त हैं। किन्तु अंग्रेज लोग भारत में तेल और पानी की भांति अलग ही रहे। सामाजिक सम्बन्धों में भी पार्थक्य भाव अधिक रहा। इसका मूल कारण यही था कि वे लोग इतनी संख्या में नहीं रहे कि जनता बन कर रहते। वे शासक ही बन कर रहे। फिर भी उनके साथ बहुत-कुछ सांस्कृतिक आदान-प्रदान हुआ।

उत्तर और दक्षिण:—यह सब मिश्रण हुआ किन्तु हमारी संस्कृति की धारा अपना व्यक्तित्व बनाये रही। आर्य लोग चाहें बाहर से आये हों और चाहे द्रविड़ लोग स्वतंत्र जाति के हों चाहे दूसरी जाति के हों, (भेद की बातों को भी हमें भुलाना न चाहिये जैसे भाषा का भेद,) किन्तु दोनों सभ्यतायें घुल-मिल गईं। धर्म में वे उत्तरी लोगों से अधिक आर्य धर्मावलम्बी है। शिव को पाश्चात्य विद्वान, अनार्य देवता कहते हैं, किन्तु हमारी भारतीय परम्परा में तो रावण भी पुलस्त्य ऋषि का नाती और ब्राह्मण था। उसके नाम से वेद भाष्य प्रसिद्ध है। वह शिव पूजक था, किन्तु राम भी शिवोपासक कहे गये हैं। पाश्चात्य विद्वानों का कहना है कि शालिग्राम की पूजा तथा नाग की पूजा आर्यों ने अनार्यों से ग्रहण की। किन्तु यह बात समझ में नहीं आती कि तथाकथित अनार्य शिव का कैलाश से कैसे सम्बन्ध स्थापित हुआ। नाग पूजा चाहे जहां से आई हो, आर्यों की अहिंसा-वृत्ति से मेल खाती है। अस्तु; जो कुछ भी हो द्रविड़ों नें आर्यों की देव वाणी संस्कृति को अपनाया और उस भाषा में ग्रन्थ-रचना की उसका महत्त्व उत्तर भारत ने स्वीकार किया। शंकराचार्य, रामानुजाचार्य,

बल्लभाचार्य की गुरु शिष्य परम्परा सारे उत्तर भारत में फैल गई। हमारी भाषा में जैसे कोड़ी (बीस) शब्द पिल्ला (बच्चे को कहते हैं) दक्षिणी भाषाओं से आये। दक्षिण के लोग हिन्दी भाषा को भी स्वीकार करते जाते हैं। अनार्य लोग (द्रविड़ आदि) कला भवन-निर्माण आदि में बहुत दक्ष थे। प्राचीन धार्मिक ग्रन्थों में भी इसकी स्वीकृति दी है। मय दानव ने ही युधिष्ठिर का भवन बनवाया था, जिसमें जल थल लगता था और थल जल। आर्य संस्कृति का हम पिछले अध्याय में विवरण दे चुके हैं।

यूनानी:—यूनानियों का प्रभाव अधिक काल तक नहीं रहा, फिर भी हमारी ज्योतिष आदि पर उनका प्रभाव पड़ा; किन्तु हमने उनका अनुकरण नहीं किया। हमारे सिद्धांतों से जो बातें मेल खातीं थीं उन्हीं को हमने अपनाया। किन्तु जो कुछ लिया है वह अपेक्षाकृत बहुत थोड़ा है।

बौद्ध और जैन:—बौद्ध और जैन अपने ही हैं। उनकी संस्कृति अपनी है। त्याग और तप की महिमा जो आर्य संस्कृति में है वही उनके यहां भी है। योग के यम जैनियों के यहां महाव्रत कहलाते हैं और बौद्धों के के यहां पँचशील के नाम से पुकारे जाते हैं। महात्मा गांधी ने उनको अपनाया था। फिर भी बौद्धों, जैनों और वैष्णवों में कुछ अन्तर है और उन्होंने भारतीय संस्कृति को अपनी-अपनी देन से सम्पन्न बनाया है। ये तीनों ही अहिंसा को परम धर्म मानते हैं। बुद्ध धर्म ने जाति-पांति की विषमताओं को दूर किया। जाति-पांति के बन्धनों को शिथिल करने के जितने आन्दोलन चले उनका मूल स्रोत वही कहा जा सकता। यज्ञादि कर्मकाण्ड की अपेक्षा नैतिक—चारित्रिक उत्थान पर अधिक बल दिया गया है। बुद्ध धर्म में जनवाद का अधिक प्रचार है। उन्होंने संस्कृत की अपेक्षा प्राकृत, पाली आदि को अधिक अपनाया और दृष्टान्तों द्वारा उच्च सिद्धांतों का बोध कराने का प्रयत्न किया। यद्यपि बौद्धों में प्रारम्भ में तो [illegible]चक्र की उपासना थी, तथापि पीछे से भगवान् बुद्ध की एक ईश्वर के

रूप में उपासना होने लगी ।

बौद्ध धर्म में भिक्षुओं, मठों और बिहारों को अधिक महत्त्व दिया गया है । प्रत्येक बौद्ध जहां बुद्धं शरणं गच्छामि और धर्मं शरणं गच्छामि कहता था, वहां 'संघं शरणं गच्छामि' भी कहता था ।

बौद्ध धर्म ने भारत का विदेशों से सम्पर्क बढ़ाया और अपनी संस्कृति की छाप भारत के बाहर भी डाली। ईसाई प्रचारकों ने भी बौद्ध प्ररचारकों का अनुकरण किया है ।

बौद्धों ने भारतीय कला को भी बहुत समुन्नत बनाया । सबसे बड़ी देन बौद्ध धर्म की थी समत्व भावना और स्वतंत्र चिन्तन । पीछे से बौद्ध धर्म बहुत विकृत हो गया । शायद यह भिक्षुओं के कठिन शासन की प्रतिक्रिया थी । महायान शाखा का जन्म ही इसी प्रतिक्रिया में हुआ । जैन लोगों नें चरित्र पर बल दिया और उसकी विशेषता यह रही कि वह बौद्धों की तन्त्रवाद में नहीं फंसा । भारत के प्रकृति के अनुकूल उसने वर्ण व्यवस्था को अंगीकार किया किन्तु जैन धर्म में ब्राह्मण का वह मान नहीं रहा जो हिन्दू धर्म में था । देवार्चन और शास्त्र की व्याख्या का समान अधिकार स्वीकार किया है । अहिंसावाद को जैन धर्म ने बुद्ध धर्म की अपेक्षा अधिक दृढ़ता से अपनाया । जैनों ने भी भारतीय कला को सम्पन्न बनाया और बौद्धों की भांति लोकभाताओं को प्रोत्साहन दिया । जैनों ने अपभ्रंश को अधिक अपनाया ।

हिन्दू धर्मों का बौद्ध और जैन धर्मों से थोड़ा-बहुत शास्त्रीय विरोध तो रहा ही है। वैसे विरोध भी रहा हो किन्तु पीछे से भगवान् बुद्ध की तो दशावतारों में गणना हुई है । गीत गोविन्द के कर्ता जयदेव ने दशावतारों में उनकी स्तुति भी की है ।

सदय हृदय दर्शित पशुघातम्
केशव धृत बुद्ध शरीर ।

गोस्वामीतुलसीदास जी ने भी भगवान् बुद्ध की अन्य अवतारों के साथ वन्दना की है 'शुद्धबोधैक घनज्ञान गुण धाम अज बुद्धावतार बंदे कृपालं'-विनय पत्रिका।

जैनियों के प्रथम तीर्थंकार भगवान् ऋषभ देव का श्रीमद्भागवत में बड़े आदर के साथ उल्लेख आया है ।

'भगवानृषभसंज्ञ आत्मतन्त्रः..........मैत्रः
कारुणिको धर्मार्थयशः प्रजानन्दाभृतावरोधेन
गृहेषु लोकं नियमयत् ५।४।४

अर्थात् भगवान ऋषभ देव, यद्यपि परम स्वतंत्र होने के कारण स्वयं सर्वदा ही सब प्रकार के अनर्थों से रहित थे, केवल आनन्द स्वरूप और स्वयं ईश्वर ही थे, तो भी अज्ञानियों के समान कर्म करते हुए उन्होंने काल के अनुसार प्राप्त धर्म का आचरण करके उसका तत्व न जानने वाले लोगों को समझाया साथ ही सम, शान्त सुहृद और कारुणिक रह कर अर्थ, काम सन्तान, भोग, सुख और मोक्ष का संग्रह करते हुए गृहस्थाश्रम के लोगों को निमन्त्रित किया ।

वैष्णवः—वैष्णव लोग भी जैनियों की भांति पूर्ण अहिंसावादी हैं। वे वेदों को प्रामाण्य मानते हुए भी पशु-बलि के पक्ष में नहीं हैं । भक्ति भावना वैष्णवों की विशेष देन है । उन्होंने भक्ति और शरणागति पर विशेष बल दिया है । उन्होंने नियम की अपेक्षा प्रेम को अधिक महत्व दिया है । यह बात कृष्ण भक्त कवियों में अधिक रही है । वैष्णव लोग [illegible] कोमल प्रकृति के होते हैं । शूद्रों के प्रति भी उनका उदार-भाव रहा

है । उनकी भक्ति में जाति-पांति का बन्धन नहीं है । वह सबके लिये सुलभ हैं । जाति-पांति के बन्धन जो बीच में खड़े हो गये थे, उनमें वैष्णव लोग कुछ शैथिल्य ले आये । महात्मा गांधी का प्रिय गीत जिसके रचयिता नरसी महता हैं, वैष्णवी मनोवृति का अच्छा दिग्दर्शन कराता है ।

वैष्णव जन तो तेने कहिये जे पीड़ पराई जाणे रे,
पर दुःखे उपकार करे तो ये मन अभिमान न आणे रे।
सकल लोक मां सहुने बन्दे, निन्दा न करे केनी रे ।

इस प्रकार वैष्णव भावना, भक्ति से भर पूर और सेवा-परायण थी । केवल शाक्त लोग ही पशु बलि के समर्थक हैं ।

मुसलमानों की देन:—मुसलमान लोगों ने भी भारतीय संस्कृति पर अपना छाप छोड़ी, किन्तु प्रायः ऊपरी बातों पर । मुसलिम संस्कृति ने मूर्तिपूजा को ठेस पहुंचाई । उनका कार्य विध्वंसात्मक रहा । कबीर से लगा कर स्वामी दयानन्द, तथा राजा राममोहन आदि ने जो मूर्तिपूजा का विरोध किया, उसमें विध्वंसक प्रभाव की अपेक्षा सुधारक प्रभाव अधिक था । मुसलमानी साम्राज्य के साथ एक सम्मिलित व्यापक राज-भाषा का प्रचार हुआ । प्रान्तीय भाषाओं को विशेष कर हिन्दी को भी प्रोत्साहन मिला । प्रारम्भ में हिन्दी और उर्दू में विशेष भेद न था ।

भारत में चाहे पहले पर्दा का कोई रूप रहा हो स्त्रियां मुंह पर अवगुण्ठन डाल कर निकलती हों और राज घराने की स्त्रियां चाहें असूर्य पश्या रही हों, किन्तु पर्दे का प्रचार जैसा मुसलमानी समय में हुआ वैसा कभी नहीं हुआ । इससे भारतीय जीवन विशेषकर नारी-जीवन पर बहुत प्रभाव पड़ा ।

मुसलमानी प्रभाव से जहां शहरी शिष्टाचार बढ़ा वहां शहरी विला-

सिता भी बढ़ी। रीतिकालीन वर्णनों में उस विलासता की छाप है। भारतीय पोशाक पर भी बहुत कुछ मुसलमानी प्रभाव पड़ा। पाजामा उन्हीं लोगों की देन है। भक्ति-काल के वर्णनों में भी मुसलमानी प्रभाव है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने श्री रामचन्द्रजी को चौगोशिया टोपी और सूर ने कृष्ण को कुलही पहनाई है। तुलसीदासजी ने रामजी को चौगान का खेल खिलाया है।

मुसलमानी प्रभाव से लोगों की ऐतिहासिक साहित्य की ओर रुचि बढ़ी। युद्धकला में भी उन्नति हुई और शासन सम्बन्धी शब्दावली आदि का प्रचार बढ़ा। चित्र-कला, स्थापत्य-कला (मूर्ति कला नहीं) और कपड़े पर कढ़ाई आदि के काम की भी उन्नति हुई। मुसलमानों ने शुरू में अवश्य लूट-मार और हत्याकाण्ड किया, पीछे उन्होंने देश को सम्पन्न बनाने में योग दिया।

अंग्रेजी की देन:—अंग्रेजों के आगमन से डाक, रेल, तारादि द्वारा एकता के साधनों की वृद्धि हुई। और जाति पांति के बन्धन शिथिल पड़े शासन में एकसूत्रता आई और अंग्रेजों भाषा द्वारा पारस्परिक प्रान्तीय सम्बन्ध बढ़े। शासन की कठोरता और शोषण नें भारत की बिखरी हुई शक्तियों को एक किया। अंग्रेजी माध्यम द्वारा स्वतंत्रता प्रेम-वर्द्धक साहित्य का प्रचार हुआ। भारत में यद्यपि मानसिक दासता बढ़ी तथापि विचार और रहन-सहन में एक-सूत्रता आई। प्राचीन साहित्य, शिलालेखों, भग्नावशेषों के अध्ययन और उनकी शोध की ओर ध्यान आकर्षित हुआ। विदेशों से हमारा सम्पर्क बढ़ा। यद्यपि वह सम्पर्क स्वतंत्र न था तथापि हमारा उससे बहुत-कुछ नेत्रोन्मीलन हुआ।

विज्ञान और स्वतंत्र चिन्तन की ओर भी लोगों का ध्यान आकर्षित आ। जहां ये सब गुण थे वहां अंग्रेजी शिक्षा ने भारतीय विद्यार्थियों

के मन में अपनी संस्कृति के प्रति उपेक्षा उत्पन्न कर दी। प्राचीन साहित्य और खोज की प्रवृत्ति कुछ ही विद्वानों में सीमित रही।

भारत का पुनर्जागरण:—भारत के पुनर्जागरण के अग्रदूत हैं महर्षि दयानन्द तथा बंगाल के राजा राममोहनराय हैं। हमारे युवकों पर स्वामी रामतीर्थ, तथा स्वामी विवेकानन्द का भी अधिक प्रभाव पड़ा है। थियोसाफी ने भी शिक्षित वर्ग का ध्यान भारतीय संस्कृति की ओर आकर्षित किया। आर्य समाज और सनातन धर्म सभाओं ने जन साधारण में संस्कृति के अध्ययन की रुचि जाग्रत की। गुरुकुल और ऋषिकुलों में प्राचीन ढंग की शिक्षा का प्रचार हुआ। इन सब के अतिरिक्त कांग्रेस ने हमारे स्वदेशाभिमान की वृद्धि की। स्वदेशाभिमान के साथ धीरे-धीरे स्वदेशी वस्त्रों और स्वदेशी रहन-सहन और स्वभाषा की ओर मोह बढ़ा। कांग्रेस के नेतृत्व में हिन्दू-मुसलमान ऐक्य और अछूतोद्धार के प्रयत्न हुए। वर्ण व्यवस्था शिथिल हुई। यद्यपि स्वभाषा के सम्बन्ध में कांग्रेस की नीति हिन्दू उर्दू मिश्रित हिन्दुस्तानी की ओर अधिक रही तथापि सारे देश में एक भाषा के प्रचार की भावना को पूज्य बापू के प्रयत्नों से प्रोत्साहन मिला। महात्मा गांधी ने साम्प्रदायिक सहिष्णुता को बढ़ाया। हिन्दू संस्कृति के स्थान में भारतीय संस्कृति का प्रचार होने लगा। किन्तु उन्होंने प्राचीन संस्कृति से सम्पर्क स्थापित रखा। उन्होंने पंच महाव्रतों को अपनाया। साथ ही स्वदेशी, और अस्पृश्यता निवारण को भी व्रत का सा ही महत्त्व दिया। उनका विचार न्याय पर आधारित था। वे समझते थे कि जब तक हम अपने समाज में ही समानता का भाव उत्पन्न नहीं करेंगे, तब तक हम अंग्रेजों से समानता की मांग नहीं कर सकते। उन्होंने जो सबसे बड़ी बात की वह यह थी कि राजनीति को धर्म नीति में परिवर्त्तित कर दिया और सत्य और अहिंसा के अस्त्रों से भारत की दासता छुड़ाई। उन्होंने शत्रु से भी प्यार किया, उससे छिपा-चोरी की नीति का व्यवहार नहीं किया। किन्तु स्वयं

कष्ट सहकर और दूसरों को कष्ट सहना सिखाकर शत्रु के हृदय-परिवर्त्तन का प्रयत्न किया। वीरता के भी माने बदले। अब वीरता दूसरों को मारने में नहीं है, बल्कि वीरता व निर्भयता के साथ सत्य पर आरूढ़ रहने के लिए कष्ट सहने में है।

महात्मा गांधी की देन को हमने पूरी तौर से नहीं अपनाया है। उसको हम समझ भी नहीं सके हैं। सत्य का हममें वह आदर नहीं है, जो प्राचीन काल में था। फिर भी हमारे राष्ट्र का आदर्श **वाक्य** "सत्यमेव जयते" ही है। आशा है कि आदर्श यथार्थ को सुधारेगा। हममें प्राचीन संस्कृति के बीज मौजूद हैं। अनुकूल वातावरण की आवश्यकता है। स्वराज्य ने हमको अनुकूल वातावरण दिया है, उससे वे बीज पुनः अंकुरित और पल्लवित होंगे।

हिन्दू संस्कृति और भारतीय संस्कृति—संस्कृति स्थिर वस्तु नहीं है फिर भी उसमें कुछ शाश्वत तत्व हैं और कुछ परिवर्त्तनशील हैं। हमारी संस्कृति के जो शाश्वत तत्व हैं, वे मानवता के तत्त्व हैं। अद्वेष-भाव, आत्मौपम्य दृष्टि, करुणा, मैत्री, मुदिता ये तत्त्व हमको भारतीय संस्कृति ही नहीं, मानव संस्कृति की ओर ले जाते हैं। हमारा अद्वेष भाव हमको सब संस्कृतियों के उत्तम और संरक्षणीय तत्वों को ग्रहण करने को प्रेरित करता है। हमारा हिन्दुत्व दूसरों के साथ अद्वेष भाव रखने में ही संरक्षित रहा है। दूसरों के साथ उदारता करके हम अपनी ही संस्कृति का पोषण करते हैं किन्तु दूसरों के साथ उदारता का व्यवहार करते हुए हमको यह न भूलना चाहिए कि हमारी संस्कृति हमारे देश के जलवायु और वातावरण के अनुकूल है। हम विदेशी संस्कृति का अन्धानुकरण न करें। अपनी संस्कृति पर गर्व करना सीखें। हमारी संस्कृति में बहुत सी वैज्ञानिकता है, विशेषकर खान-पान के नियमों में। हमारी पोशाक भी देश के वातावरण के अनुकूल है। हमारी संस्कृति जीवित और सबल है। दूसरी

संस्कृतियों के संरक्षिणीय तत्वों को अपना कर भी अपनपत्व और अपनी विशेषता रख सकती है। हमको अपनी विशेषता न खो देनी चाहिए। अपनी विशेषता बनाए रखने के लिए हमको अपनी विशेषताओं का अध्ययन करना चाहिए। इसी दृष्टि से अगले अध्याय लिखे गए हैं। हमारी प्राचीन संस्कृति के मूल स्रोत हैं, हमारे वेद-शास्त्र और काव्य और कला कृतियाँ। इनकी उपेक्षा करना अपने पूर्वजों के प्रति कृतघ्नता है। हमारे रीति-रिवाज पर्व और उत्सव भी हमारी संस्कृति के परिचायक हैं। हमारी संस्कृति के विराट् स्वरूप के ये अंग हैं। हमको संस्कृति के बाहरी चिन्हों का आदर करते हुए और उसको अपनाते हुए उसकी आत्मा को न भूलना चाहिए।

संस्कृत साहित्य में भारतीय संस्कृति

वैदिक साहित्य

लौकिक और धार्मिक साहित्य—साहित्य संस्कृति का एक प्रधान अंग है, साहित्य में जाति के मनोगत भाव सुरक्षित रहते हैं और उसके द्वारा उनके विकास-क्रम का भी कुछ अनुमान लगाया जा सकता है।

भारतीय साहित्य की परम्परा बहुत लम्बी है और उसकी शाखायें भी चारों ओर फैली हुई हैं। वैसे तो भारतीय साहित्य कहने से वैदिक और लौकिक संस्कृत और प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य तथा भिन्न भिन्न उत्तर और दक्षिण पूर्व और पश्चिम के प्रान्तों के साहित्य का अनन्त विस्तारमय क्षेत्र हमारे सामने आजाता है और उसको एक छोटी सी पुस्तक के किसी अध्याय की सीमा में बांधना इस लेखनी की शक्ति के बाहर है, किन्तु जो कुछ थोड़ा और बहुत पढ़ा और सुना है उसके आधार पर हम उस संस्कृत साहित्य परम्परा का दिग्दर्शन मात्र करा सकते हैं जिसका सभी प्रान्त की भाषाओं ने थोड़ी–बहुत मात्रा से उत्तराधिकार प्राप्त किया है। यद्यपि भारतवर्ष में धार्मिक और लौकिक साहित्य में कोई अन्तर नहीं है तथापि कुछ साहित्य को हम विशेष रूप से धार्मिक कह सकते हैं। शेष को हम लौकिक कहेंगे।

वैदिक और लौकिक संस्कृत:—भाषा की दृष्टि से भी वैदिक और लौकिक संस्कृत में भेद किया जाता है। वैदिक संस्कृत बोल–चाल की भाषा के कुछ अधिक निकट थी उसमें तरलता थी–एक–एक विभक्ति के कई–कई रूप होते थे। लौकिक संस्कृत पाणिनि के व्याकरण के सूत्रों में ऐसी बंध गई थी कि उसमें तरलता का अभाव सा हो गया था। उससे बिगड़ कर चाहे जितने रूप बने हों किन्तु शुद्ध संस्कृत का रूप अक्षुण्ण रहा। उसकी स्फटिक की सी शुद्धता और स्वच्छता में मलिनता नहीं आई।

वेद :—हमारी संस्कृति के प्राचीनतम भण्डार वेद हैं। इनमें हमारे पूर्वजों के तपोमय चिन्तन और अन्तर्दृष्टि का फल निहित है। विदेशियों ने भी ऋग्वेद की महिमा मुक्त कंठ से स्वीकार की है। (चाहे उसके समय निर्धारण और अर्थ में भूलें की हों) मेक्समूलर का कहना है कि जब तक भूतल पर नदी और पर्वत रहेंगे तब तक लोकों में ऋग्वेद की महिमा का प्रचार रहेगा।

यावत्स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले।
तावदृग्वेदमहिमा लोकेषु प्रचरिष्यति॥

दार्शनिकों में मीमांसक इनको अपौरुषेय और नैयायिक ईश्वर-कृत और अनादि मानते हैं। ईश्वर को न मानने वाले स्वतंत्र विचारक सांख्य वालों ने भी उनको अपौरुषेय कह कर उनका प्रामाण्य स्वीकार किया है। (अपौरुषेय का अर्थ है किसी पुरुष ने चाहे वह ईश्वर हो या मनुष्य हो नहीं बनाया गया।) वेद का अर्थ ज्ञान है। ज्ञान अनादि है किन्तु उसका प्रकाश समय में होता है। वेदों की ऋचाओं के द्रष्टा हुये हैं उन्हें ऋषि कहते हैं। ऋषयः मन्त्र द्रष्टारः। उनको यह ज्ञान उनकी अन्तर्दृष्टि के द्वारा प्राप्त था। ऋषि लोग वेदों के कर्ता नहीं वरन द्रष्टा ही माने गये हैं। दर्शन उसी वस्तु का होता है जो पहले से वर्तमान होता है। यह भावना भारत की मौलिक धार्मिक भावना है कि मनुष्य का ज्ञान ईश्वराधीन है। उसमें उसके अहंभाव का निषेध रहता है। वेदों को श्रुति भी कहते हैं। इनके सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि कितने दिनों में यह मौखिक परम्परा में रहे और कब लिखे गये।

वेदों का समय :—वेद मनुष्य जाति के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। इनके निर्माण के सम्बन्ध में विद्वानों में बड़ा मत भेद है। पाश्चात्य काल गणना पहले बहुत संकुचित थी। बाईबिल के हिसाब से सृष्टि का आरम्भ ही पांच या सात हज़ार वर्ष पूर्व का माना जाता है। किन्तु विकासवाद के विज्ञान ने अब दृष्टिकोण

बदला है । मनुष्य को संसार में आये लाखों वर्ष हो गये हैं । फिर आर्य लोग जो प्राचीन समय में गणित, व्याकरण, ज्योतिष, आर्युवेद आदि में संसार पर अपना सिक्का जमा चुके थे मिश्र या चीन से क्यों पीछे रहते ?

अस्तु वेद इतने प्राचीन हैं कि उनके निर्माण काल का अनुमान लगाना कठिन है । लोगोंने जो अनुमान लगायें हैं वे इस प्रकार हैं:—

मेक्समूलर उनको भाषा तत्व के आधार पर १२०० ईसा पूर्व का मानता है । उसका कथन भ्रामक सिद्ध हुआ—जेकेवी ने ज्योतिष की गणना पर वेदों का निर्माण काल ६५०० वर्ष पूर्व का निश्चित किया है। अपने देश के विद्वान लोकमान्य तिलक ने इस आधार पर कि ब्राह्मण ग्रन्थों में नक्षत्रों की गणना कृतिका नक्षत्र से होती थी । (तभी दिन रात बराबर होता था) और गणना करने से वह स्थिति ४५०० वर्ष पूर्व की आती है । उनका समय ४५०० वर्ष पूर्व का माना है ।

वेदों की संहिताओं में नक्षत्रों की गणना मृगशिरा से होती है । (आजकल अश्विनी से होती है) यह स्थिति आज से ६५०० वर्ष पूर्व थी । वे वेदों के प्रारम्भिक काल को ८५०० तक ले जाते हैं । यह गणनायें भी अन्तिम नहीं कही जा सकतीं । क्योंकि समय की गणनायें कई प्रकार से की जाती हैं । कुछ लोगों ने वेदों में वर्णित भौगोलिक सामग्री के आधार पर इस समय को ९००० से ६०००० वर्ष तक खींचा है । यह बात तो ठीक है कि जो वर्णन दिये गये हैं वे ६०००० वर्ष के हो सकते हैं क्योंकि जैसे जहां तब समुद्र था वहां अब पहाड़ और रेगिस्तान हैं किन्तु यह भी सम्भव है कि उन्होंने उस स्थिति को परम्परा से सुना हो । यूनानी लेखकों ने चन्द्रगुप्त से पूर्व १५४ राज वशों का वर्णन किया है । उनका शासन काल ६४५७ वर्ष लगाया है । वही जेकोवी और लोकमान्य का समय बैठता है । इस विवेचन से हमारा यही अभिप्राय है कि पाठकगण यह जान लें कि

किन–किन आधारों पर वेदों का काल निर्णय किया जा सकता है। हम ऊंची सीमा तो कोई नहीं दे सकते किन्तु सबसे नीचे की सीमा जेकोबी और लोकमान्य तिलक की दे सकते हैं।

वेदों की संख्या—वेद चार माने गये हैं—ऋक वेद, यजुर्वेद, साम वेद और अथर्ववेद। वेदों के दो भाग हैं—संहिता भाग और ब्राह्मण भाग कुछ लोग तो केवल संहिता भाग को ही वेद मानते हैं और कुछ संहिता और ब्राह्मण भाग को जिसमें आरण्यक और उपनिषद भी सम्मिलित हैं, वेद मनाते हैं।

मंत्रब्राह्मण्योर्वेदनामधेयम्

मंत्र भाग को ही संहिता कहते हैं। यजुर्वेद के दो भाग हैं। शुक्ल यजुर्वेद और कृष्ण यजुर्वेद। कृष्ण यजुर्वेद में गद्य और पद्य दोनों ही मिली हुई हैं। कुछ लोगों का विचार है कि गद्य–पद्य के मिश्रण के कारण ही कृष्ण यजुर्वेद कृष्ण कहलाया। एक मत यह भी है कि भगवान भुवन–भास्कर सूर्य द्वारा जिस अंश का ज्ञान दिन में दिया गया वह शुक्ल यजुर्वेद कहलाया। यज्ञ में वेदों के पाठ करने वालों के भिन्न-भिन्न पारिभाषिक नाम हैं। ऋग्वेदेन होता करोति, यजुर्वेदनाध्वर्युः, सामवेदेनोग्दाता अथर्वैवा ब्रह्मा। यज्ञ में होता ऋग्वेद से, अध्वर्य यजुर्वेद से उग्दाता सामवेद से और ब्रह्मा अथर्बवेद से अपने-अपने काम की पूर्ति करते हैं। वेदों को लोग त्रयी भी कहते हैं। "त्रयी, वार्ता, दण्डनीतिश्च"। त्रयी शब्द संख्यावाचक नहीं है, वरन मंत्रों के प्रकार का वाचक है—पद्य–गद्य और गेय। इन वेदों की ११३० शाखायें है किन्तु अधिकांश शाखायें उपलब्ध नहीं हैं। इस संख्या का पता अन्य ग्रन्थों में, जैसे पतञ्जलि के महाभाष्य में, इनके उल्लेख से, चला है। ऋगवेद की २१ शाखाओं वा संहिताओं में केवल शाकल संहिता ही उपलब्ध है यजुर्वेद की केवल पांच ही शाखाऐं प्राप्त हैं। इन वेदों के चार उपवेद भी हैं—ऋगवेद का आयुर्वेद, यजुर्वेद का धनुर्वेद, सामवेद का गान्धर्ववेद (संगीत शास्त्र)। और अथर्ववेद का तन्त्र शास्त्र। प्रत्येक ब्राह्मण कुल किसी

एक शाखा में विशेषता प्राप्त करता था। वेद का पाठ करना सभी ब्राह्मणों का क्या, द्विज मात्र का पुनीत कर्तव्य समझा जाता था।

ब्राह्मण और आरण्यक–ये वेदों के कर्म काण्ड की व्याख्या हैं। प्रत्येक वेद के अलग-अलग ब्राह्मण, आरण्यक और उपनषिद होते थे, जैसे ऋग्वेद के दो ब्राह्मण हैं–ऐतरेय और कौषीतकि। ऐतरेय ब्राह्मण में सोमयज्ञ का विधान है; कृष्ण यजुर्वेद का तैतरेय ब्राह्मण है और शुक्ल यजुर्वेद के ब्राह्मण का नाम शतपथ ब्राह्मण है। सामवेद के आर्षेय ब्राह्मण, वंश ब्राह्मण आदि हैं। अथर्व वेद का गोपथ ब्राह्मण है। इसी प्रकार आरण्यक भी हैं। जैसे ऐतरेय और तैतरेय ब्राह्मण भी हैं और आरण्यक भी। कुछ आरण्यक और उपनिषद मिले हुये हैं। उनको आयण्यक भी कह सकते हैं और उपनिषद भी। जैसे वृहदारण्यक उपनिषद जिसका सम्बन्ध शुक्ल यजुर्वेद से ही है। तैतरेय और ऐतरेय उपनिषद भी है। माण्ड्क्य उपनिषद अथर्ववेद का है। छान्दोग्योपनिषद सामवेद का है।

ब्राह्मण और आरण्यक का यह भेद बतलाया जाता है कि जिनमें गृहस्थों का कर्मकाण्ड का वर्णन है। वे ब्राह्मण ग्रन्थ कहलाते हैं और जिनमें आरण्यकों अर्थात वान-प्रस्थों के कर्म काण्ड का वर्णन है वे आरण्यक ग्रन्थ हैं। किन्तु इन ग्रन्थों में केवल कर्म काण्ड ही नहीं है वरन् सदुपदेश भी है।

उपनिषद—उपनिषद ग्रन्थों में वेदों का ज्ञान काण्ड है। उप शब्द का अर्थ है समीप और निषद का अर्थ है अच्छी तरह बैठना। इस प्रकार इसके दो अर्थ होते हैं। जो ज्ञान कि गुरु के समीप अच्छी तरह बैठ कर प्राप्त किया जाता है अथवा जो ज्ञान ब्रह्म के समीप पहुंचा कर बैठाल देता है वह उपनिषद ज्ञान कहलाता है। वैसे तो उपनिषदों की संख्या २२० है किन्तु उनमें नीचे लिखे उपनिषद मुख्य हैं। ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्ड्क्य, तैतरीय, ऐतरीय, छान्दोग्य, वृहदारण्यक, श्वेताश्वेतर, और कौषीतकि। उप-

निषदों की मुख्यता की कई कसौटियां हैं। उनमें एक यह भी है कि जिन उपनिषदों पर श्री स्वामी शंकराचार्य नें अपना भाष्य लिखा है वे मुख्य हैं:–

उपनिषदों की महत्ता :—उपनिषदों में वैदिक कर्मकांड की प्रतिक्रिया है। वे ब्रह्मविद्या के भण्डार हैं। श्रीमद्भगवद्‌गीता को भी उपनिषद कह कर उपनिषदों का महत्त्व बढ़ाया गया है। इनमें सब दर्शनों के बीज हैं और अद्वैतवाद का विशेष पोषण है। भारतीय संस्कृति का इनमें सच्चा स्वरूप उतर आया है।

उपनिषदों को दाराशिकोह ने बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखा था। उनका उसने फारसी में अनुवाद कराया। उस फारसी से फरासीसी तथा लेटिन भाषा में अनुवाद हुआ। जर्मन दार्शनिक शापनहार ने उपनिषदों को अपने जीवन और मरण दोनों का संतोषदायक माना है। It has been the solace of my life and it will be the Solace of my death.

विचार और उपदेश:—ब्रह्म को ही सब वस्तुओं का आदि स्रोत माना है। उसी से सबका जन्म होता है। उसी में जीवित रहते हैं और उसी में लीन हो जाते हैं। उसी की जिज्ञासा करना चाहिए।

यतो व इमानि भूतानि जायतं।
येन जातानि जीवंति यत्प्रयंति अभिसंविशंति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति।
वै० ३-१

वह ब्रह्म सबमें रहता हुआ भी संसार के बाह्य दोषों से लिप्त नहीं होता है। ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार की सूर्य सब संसार की आंख है, किन्तु संसार की आँख के दोष उसको लिप्त नहीं करते हैं।

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न,
लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्य दोषैः ॥

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा,
न लिप्यते लोक-दुःखेन बाह्यः ॥

कठ २।२।११

वह ब्रह्म एक होकर सबकी अन्तरात्मा है, सबमें एक रूप होकर भी सबमें अलग रहता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार वायु सब भुवनों में उन्हीं का रूप धारण कर लेता है; किन्तु सबसे बाहर भी रहता है । तात्पर्य यह है कि ब्रह्म सबमें व्याप्त रहकर भी सबसे परे है ।

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो,
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा,
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥

कठ २।२।१०

वेदान्त का पूरा-पूरा रूप इन तीन महावाक्यों में आ गया है-- 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ), 'तत्त्वमसि' (तू वह है), 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (यह सब ब्रह्म है) । ऐसी श्रुतियों की भी कमी नहीं है, जो द्वैतवाद का पोषण करती हैं ।

द्वा. सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥

मुण्डक ३।१।१

अर्थात् एक वृक्ष पर दो पक्षी सखा और सहचर रूप से रहते हैं । उनमें एक फल को खाता है, दूसरा कुछ नहीं खाता; तटस्थ देखता रहता है । फल को खाने वाला जीव है, न खाने वाला ईश्वर है । उपनिषदों में सत्य की बड़ी महिमा गाई गई है ।

'सत्यमेव जयति नानृतम्' (मुण्डक ३-१-६) अर्थात् सत्य की ही जय होती है, झूठ की नहीं ।

कर्म का उपदेश उपनिषदों में भी दिया गया है। कर्म करते रहकर ही मनुष्य को सौ वर्ष तक जीना चाहिए। इस प्रकार उसको कर्म लिप्त नहीं करेंगे।

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।।'
—ईशावास्य । २

उपनिषदों की सबसे बड़ी शिक्षा त्यागमय भोग की है। ईशावास्य उपनिषद कहता है कि सारा संसार और उसमें जो कुछ है, ईश्वर से व्याप्त है। इसलिए त्याग के साथ भोग करो, किसी दूसरे के भाग के धन पर लालच मत करो। अपने भोग को सीमित रखने से दुनिया में सुख और शान्ति रह सकती है।

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यचिद्धनम् ।।
—ईशावास्य । १

स्नातक जब गुरु का घर छोड़ता था, उस समय के दीक्षांत उपदेश की झलक हमको उपनिषदों में मिलती है। उसमें 'भारतीय संस्कृति' के मूल तत्त्व निहित हैं।

"सत्यं वद । धर्मं चर। स्वाध्यात्मा प्रमदः। सत्यान्न प्रमदितव्यम् । धर्मान्नप्रमदितव्यम् । देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम् । मातृदेवो भव । पितृदेवो भव । आचार्यदेवो भव । अतिथिदेवो भव । यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि । नो इतराणि ।"
—तैतरीय

अर्थात् सत्य बोलो, धर्म का आचारण करो। कभी भी स्वाध्याय अर्थात् वेदादि अध्ययन द्वारा ज्ञानोपार्जन में आलस्य न करना चाहिए।

सत्य के बोलने में असावधानी न करना चाहिए। धर्म के पालन में अव-हेलना न करना चाहिए। देवों और पितरों के प्रति जो कर्तव्य हैं उससे कभी विरत न होना चाहिए। माता को देवता मानने वाले बनो। पिता को देवता मानो और आचार्य को देवता मानो, अतिथि को देवता समझो। जो अनिन्दनीय कार्य हैं, उन्हीं को करना चाहिए, दूसरों को नहीं।

इस प्रकार हम देखते है कि उपनिषद भारतीय ज्ञान और सदाचार के भण्डार हैं। वे हमारी संस्कृति के आधार-स्तंभ हैं।

वेदांग—वेदों के छः अंग माने गए हैं। ये अंग वेदाध्ययन के लिए आवश्यक हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं :—शिक्षा (उच्चारण आदि का विज्ञान), कल्प, व्याकरण, छंद, ज्योतिष, निरुक्त। वेदों के शुद्ध उच्चारण का विशेष महत्त्व था। उच्चारण के गड़बड़ हो जाने से बड़े अनिष्ट की संभावना रहती है। वृत्रासुर ने इंद्र पर विजय पाने के लिए एक यज्ञ कराया था, उसमें 'इंद्रशत्रो वर्द्धस्व' मंत्र से आहुतियाँ दी गईं। स्वर के अन्तर से इसके दो अर्थ हो जाते थे। एक तो अर्थ यह होता है कि इंद्र के शत्रु वृत्रासुर की वृद्धि हो (यही अर्थ वृत्रासुर को अभीष्ठ था)। आहुति देने में ऐसा उच्चारण किया गया, जिसका अर्थ होता था, इंद्र जो शत्रु है, उसकी वृद्धि हो। अन्त में उसके फलस्वरूप वृत्रासुर की मृत्यु हो गई। इस संबंध में यह उक्ति प्रसिद्ध है :—

मंत्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात॥

अर्थात् वर्ण या स्वर से ही मंत्र अथवा जिसका प्रयोग ठीक नहीं होता है, वह अर्थ या अभीष्ठ की सिद्धि नहीं करता है, वह वाग्वज्र बनकर यजमान को मारता है। जैसे स्वर के अपराध से इंद्र का शत्रु वृत्रासुर मारा गया।

प्रत्येक वेद का अलग-अलग शिक्षा-शास्त्र था, जैसे शुक्ल यजुर्वेद की याग्यवल्क्य शिक्षा और सामवेद की नारद शिक्षा। अथर्व वेद की माण्डूकी शिक्षा कहलाती थी। पाणिनीय शिक्षा व्यापक शिक्षा-ग्रंथ था। ऋग्वेद वाले जिनका कोई विशेष शिक्षा ग्रंथ नहीं था उसे मान्य समझते हैं। इन शिक्षा-ग्रंथों में ध्वनि-शास्त्र (Phonetics) के नियमों का बहुत-कुछ विकास हो गया था।

कल्प :—कर्मकाण्ड प्रधान संस्कृति में कल्प सूत्रों का विशेष महत्त्व था। कल्प का अर्थ है विधि वा नियम। नियम और मर्यादा हमारी संस्कृति की एक विशेषता है। हिन्दू जीवन से संबंध रखने वाले प्रत्येक संस्कार और धार्मिक या लौकिक कार्य-कलाप इनके विधि-विधान से शासित होते थे। ये चार प्रकार के थे। श्रौत सूत्र, गृह्य सूत्र, धर्म सूत्र और शुल्व सूत्र। श्रौत सूत्रों में वैदिक यज्ञादि (जैसे दर्शपूर्णाभास, अग्निष्टोम, वाज-पेय आदि) का विधि-विधान रहता है।

गृह्य सूत्रों में उपनयन (यज्ञोपवीत) विवाहादि संस्कारों का विधान रहता है। हमारी विवाह-पद्धतियाँ उन्हीं पर आश्रित हैं: धर्म सूत्र में विभिन्न जातियों और आश्रमों तथा राजा आदि के कर्त्तव्य, उत्तराधिकार के नियम आदि दिये गये हैं। एक ही ऋषि के जैसे आश्वलायन, वोधायन, शांखायन, के लिखे हुए तीनों प्रकार के सूत्र मिलते हैं। शुल्व सूत्रों में वेदी आदि का विधान है। शुल्व उस डोरे को कहते हैं, जिससे वेदी आदि नापी जाती है।

व्याकरण :—वेदों के लिए जैसा शिक्षा का महत्त्व था वैसा ही व्याकरण का क्योंकि अर्थ लगाने और शुद्ध पाठ दोनों के लिए उसकी जानकारी आवश्यक थी। वेद की एक-एक शाखा के व्याकरण के अविशाख्य ग्रन्थ कहते हैं क्यों कि उनका वेद की प्रति शाखा से सम्बन्ध था। असली बात यह थी कि वैदिक भाषा

लौकिक संस्कृत से कुछ भिन्न थी और उसके लिए अलग व्याकरण की आवश्यकता थी।

छन्द और ज्योतिष—छंद पिंगल शास्त्र को कहते हैं। छंदों को जाने बिना ठीक पाठ नहीं हो सकता है। छंदों में गायत्री का विशेष मान है। "गायत्री छंदसामहम्"। (श्रीमद्भगवद्गीता १०–३५) ज्योतिष भी यज्ञादि के समय के लिए परमावश्यक अंग था।

निरुक्तः—वेदों के लिए पृथक कोष भी बने। ये निघण्टु के नाम से प्रसिद्ध हुए। लेकिन शब्दों का अर्थ जानना ही पर्याप्त न था, उनकी व्युत्पत्ति और उसके साथ भाषा के विकास के नियम भी जानना जरूरी था। निरुक्त द्वारा इस कमी की पूर्त्ति की गई। यास्क निरुक्त के प्रधान आचार्य हैं। वर्ण विकार (जैसे प्रकट का प्रगट हो जाना) वर्ण विपर्यय (जैसे हिंस का सिंह हो जाना अथवा लाँयब्रेरी का रायबरेली हो जाना) आदि का इसमें विवेचन है। इसमें व्याकरण की पूर्त्ति है। शिक्षा, व्याकरण, जिसमें प्रतिशाख्य ग्रंथ भी शामिल हैं। और निरुक्त इन तीनों शास्त्रों में आजकल की भाषा-विज्ञान के बहुत से जटिल नियम आ जाते हैं। जो नियम कि उन्नीसवीं शताब्दी में निर्धारित हुए, उनमें से बहुत से हमारे यहाँ ईसा पूर्व सोचे जा चुके हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन काल में वेदों के सहारे भाषा का पूरा-पूरा अध्ययन हो गया था और उसी के साथ जो हिन्दू जीवन के धार्मिक कृत्य, आचार और व्यवहार थे, उन सबका विधिवत विवेचन आ गया है। इन सब ग्रंथों के भाष्यों और टीकाओं का बहुत बड़ा विस्तार है।

वैदिक विचार-धारा

यद्यपि वेदों में इंद्र, वरुण, अग्नि आदि देवता आते हैं, तथापि उनका एक ही व्यापक परमात्मा में एकीकरण हो गया था—"एकं सद् विप्रा बहुधा बदन्ति। इसके अतिरिक्त इनके प्रशंसा में जो विशेषण दिए जाते हैं, वे परमात्मा के द्योतक हैं। इंद्र, वरुण आदि परमात्मा के ही वाचक हैं। कवि लोग एक ही परमात्मा की बहुत से रूपों में कल्पना करते हैं—'कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयंति।' इन देवताओं के आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीनों प्रकार के अर्थ हैं। आधिभौतिक अर्थ में प्राकृतिक शक्तियाँ हैं, आधिदैविक अर्थ में उन शक्तियों के अभिमानी, अथवा उनमें प्रतिष्ठित देवता हैं (सनातन धर्मी इस अर्थ को भी मानते हैं।), और आध्यात्मिक अर्थ में ये सब परमात्मा के ही रूप हैं। इसलिए हम वैदिक आर्यों को बहुदेववादी नहीं कह सकते हैं। उसी परमात्मा के विराट रूप का वर्णन पुरुष सूक्त में आया है। उसमें उसे सहस्त्र शीर्षा कहा है। लक्षणा से सहस्त्र का अर्थ अनेको हैं। उसी से सब कुछ हुआ है। सारा ब्रह्मांड उसके चौथाई भाग से निर्मित है। कहने का अर्थ यह है कि भगवान विश्व को व्याप्त करते हैं और उससे बाहर भी हैं। एक चौथाई संसार में, बाकी के अविनाशी तीन पाद दिव्य लोक ये हैं।

पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।' और देखिए:—

'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' इत्यादि— ब्राह्मण उसके मुख है। वाहें उसकी क्षत्रिय हैं। वैश्य उसकी जंघाएं हैं। शूद्र उसके पैरों से हुए।

मंत्रों और यज्ञों में देवताओं को प्रसन्न करने की शक्ति मानी जाती थी। यज्ञ को ही विष्णु और प्रजापति कहा है। उसको श्रेष्ठ कर्म बतलाया गया है।

वैदिक यज्ञ हिंसात्मक होते थे या नहीं, इस संबंध में मतभेद है। भाष्यकारों ने यज्ञों के दोनों प्रकार के अर्थ लगाए हैं। ऐसा भी संभव है कि शब्दों की द्वैर्थकता के कारण कुछ लोगों ने यज्ञों में मांस का व्यवहार आरम्भ कर दिया हो, किन्तु इसके विरुद्ध संख्यादि दर्शनों में प्रारम्भ से ही प्रतिक्रिया रही है। कुछ लोग यज्ञादि में मांस खाने को परिसंख्या विधि से मानते हैं। यज्ञ में मांस का विधान बताकर मनुष्य केवल यज्ञ में ही खाएगा, अन्यत्र नहीं खाएगा ऐसा सोचना ठीक नहीं है। एक बार धार्मिक कत्य में भी चाट पड़जाने पर लोग बिना धार्मिक अवसर पर भी खाने लगजाते हैं। वेदाज्ञा का तो बहाना हो जाता है। श्रीमद्भागवत् (११।५।११) में ठीक ही कहा है कि संसार में मैथुन मद्यऔर मांस सेवन में लोगों की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। उससे वेद की आज्ञा नहीं होती है। (कहने का तात्पर्य यह है कि जिस चीज में लोगों की स्वाभाविक प्रवृत्ति है, उसमें आज्ञा देने की आवश्यकता ही क्या ?) अतः आज्ञा को आज्ञा न समझना चाहिए। कहीं-कहीं विवाह-यज्ञ आदि में इसके लिए जो गुन्जा-यश दे दी जाती है, वह उच्छृङ्खलता को रोकने के लिए ही दी जाती है। वास्तव में निवृत्ति ही अभीष्ठ है।

लोके व्यवायामिषमद्यसेवा नित्यास्तु जन्तोर्नहि तत्रचोदना।
व्यवस्थितिस्तेषु विवाहयज्ञसुराग्रहैरासु निवृत्तिरिष्टा॥

यज्ञ का वाच्यार्थ है, स्वार्थ छोड़कर पूजन करना। पीछे से इसी अर्थ में यह शब्द व्यवहृत होने लगा किन्तु पहले यज्ञ अग्नि में वेदमन्त्रों के साथ हवि डालने को ही कहते थे। प्रत्येक गृहस्थ-घर में अग्नि रखता था, और वह कभी बुझने नहीं दी जाती थी। अन्तिम संस्कार में उसी अग्नि का व्यवहार होता था। आजकल भी मृतक-संस्कार के लिए घर से ही एक हँड़िया में आग ले जाते हैं। वह उसी न बुझने वाली गार्हपत्य अग्नि की द्योतक है। यज्ञों में आने वाले मंत्रों तथा अन्य मंत्रों में आई हुई जो

प्रार्थनाएँ हैं, वे उच्चकोटि की हैं। उनमें शत्रुओं से संघर्ष की बात अवश्य है किन्तु ये प्रार्थनाएँ निर्विवाद रूप से यह नहीं सिद्ध करती हैं कि आर्य लोग बाहर से ही आए हैं। देश के भीतर दुष्ट और दस्यु पैदा हो सकते हैं। मनु महाराज ने लिखा है कि क्षत्रियों आदि में क्रियाओं का लोप होने से, अध्ययन-अध्यापन के लिए ब्राह्मणों के दर्शन के लोप होने से धीरे-धीरे वे शूद्र या व्रषल संज्ञा को प्राप्त हो जाते हैं। कम्बोज, द्रविड़ आदि इसी तरह से दस्यु कहलाए :—

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च ॥
पौण्ड्रकाश्चौड्रद्रविड़ाः कम्बोजा यवनाः शकाः।
पारदा पलिवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः ॥
मुखबाहुरूपज्जाना या लोके जातयोवहिः।
म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः ॥

मनुः १०।४३–४५

इस प्रकार प्राचीन भारतीय मत से द्रविड़ आदि कहीं बाहर के नहीं थे। और न शक और दरद लोग बाहर के थे। ये लोग चाहे आर्य भाषा बोलते हों और चाहे म्लेच्छ भाषा, सब बिगड़े हुए आर्य थे और दस्यु कहलाते थे।

वेदों में राष्ट्र का और मातृभूमि का विशेष महत्त्व है। आर्य लोग अपने राष्ट्र को बली और शक्तिशाली बनाना चाहते थे—उनकी प्रार्थना थी कि हमारे राष्ट्र में क्षत्रिय शूर वीर, तीर चलाने वाले लक्ष्य भेदी और महा रथी हों—'आराष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथी जायताम्।' राजा के लिए ब्रह्मचर्य बगैर तप का आदेश दिया गया था। 'ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति' प्रजागणों में सबको एकमन और एकबाणी भी होने का देवताओं की भांति मिल-बांटकर भोग करने का आदेश दिया है :—

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवाभागं यथापूर्वे संजानानामुपासते ॥

वैदिक काल में गौओं का बहुत आदर था। यह आदर भारतीय संस्कृति में तबसे अब तक वर्तमान है। ऋग्वेद में कहा गया है कि गाय रुद्रों की माता, वसुओं की पुत्री, आदित्यों की भगिनी और अमृत अर्थात् दुग्ध का निवास स्थान है। मनुष्यों को चाहिए कि इस अदिति रूपिणी गौ का वध न करें।

वेदों में १०० वर्ष जीने की ईश्वर से प्रार्थना की गई है—'जीमेव शरदः शतम्' लेकिन उसी के साथ यह भी प्रार्थना है कि 'अदीनः स्याम शरदः शतम्' अर्थात् १०० वर्ष अदीन होकर रहें। यहाँ पर हम नागरी प्रचारिणी पत्रिका के विक्रमांक से पाठकों के लाभार्थ पृथ्वी सूक्त की व्याख्या के कुछ अंश जो एक पृथ्वी पुत्र द्वारा की गई है, देते हैं। इससे राष्ट्र संबंधी वैदिक चिन्तन का कुछ अनुमान लगाया जा सकेगा।

अथर्ववेदीय पृथिवीसूक्त (१२।१।१-६३) में मातृभूमि के प्रति भारतीय भावना का सुन्दर वर्णन पाया जाता है। मातृभूमि के स्वरूप और उसके साथ राष्ट्रीय जन की एकता का जैसा वर्णन इस सूक्त में है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। इन मंत्रों में पृथिवी की प्रशस्त वंदना है, और संस्कृति के विकास तथा स्थिति के जो नियम हैं, उनका अनुपम विवेचन भी है। सूक्त की भाषा में अपूर्व तेज और अर्थवत्ता पाई जाती है। स्वर्ण का परिधान पहने हुए शब्दों को कवि ने श्रद्धापूर्वक मातृभूमि के चरणों में अर्पित किया है। कवि को भूमि सब प्रकार से महती प्रतीत होती है, 'सुमनस्यमाना' कहकर वह अपने प्रति भूमि की अनुकूलता को प्रकट करता है। जिस प्रकार माता अपने पुत्र के लिए मन के वात्सल्य भाव से दुग्ध का विसर्जन करती है उसी प्रकार दूध और अमृत से परिपूर्ण मातृभूमि अनेक पयस्विनी धाराओं से

राष्ट्र के जन का कल्याण करती है। कल्याण-परम्परा की विधात्री मातृ-भूमि के स्तोत्र-गान और वंदना में भावों के वेग से कवि का हृदय उमँग पड़ता है। उसकी दृष्टि में यह भूमि कामदुग्धा है। हमारी समस्त काम-नाओं का दोहन भूमि से इस प्रकार होता है, जैसे अडिग भाव से खड़ी हुई धेनु दूध की धाराओं से पन्हाती है। कवि की दृष्टि में पृथिवीरूपी सुरभि के स्तनों में अमृत भरा हुआ है। इस अमृत को पृथिवी की आराधना से जो पी सकते हैं, वे अमर हो जाते हैं। मातृभूमि की पोषण-शक्ति कितनी अनंत है? वह विश्वंभरा है। उसके विश्वधायस् (२७)* रूप को प्रणाम है।

मातृभूमि का हृदय—स्थूल नेत्रों से देखनेवालों के लिए यह पृथिवी शिला भूमि और पत्थर-धूलि का केवल एक जमघट है। किन्तु जो मनीषी हैं, जिनके पास ध्यान का बल है, वे ही भूमि के हृदय को देख पाते हैं। उन्हीं के लिए मातृभूमि का अमर रूप प्रकट होता है। किसी देवयुग में यह भूमि सलिलार्णव के नीचे छिपी हुई थी। अब मनीषियों ने ध्यानपूर्वक इसका चिंतन किया, तब उनके ऊपर कृपावती होकर यह प्रकट हुई। केवल मन के द्वारा ही पृथिवी का सान्निध्य प्राप्त किया जा सकता है। ऋषि के शब्दों में मातृभूमि का हृदय परम व्योम में स्थित है। विश्व में ज्ञान का जो सर्वोच्च स्रोत है, वहीं यह हृदय है। यह हृदय सत्य से घिरा हुआ और अमर है (यस्याः हृदयं परमें व्योमन् सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः) हमारी संस्कृति में सत्य का जो प्रकाश है उसका उद्गम मातृभूमि के हृदय से ही हुआ है। सत्य अपने प्रकट होने के लिए धर्म का रूप ग्रहण करता है। सत्य और धर्म एक है। पृथिवी धर्म के बल से टिकी हुई है (धर्मणा धृता)। महासागर से बाहर प्रकट होने पर जिस तत्त्व के आधार पर पृथिवी आश्रित हुई, कवि की दृष्टि में वह धारणात्मक तत्त्व धर्म है। इस प्रकार के

*कोष्ठक के अंक सूक्तांतर्गत मंत्रों के अंक हैं।

धारणात्मक् महान धर्म को पृथिवी के पुत्रों ने देखा और उसे प्रणाम किया। नमो धर्माय महते धर्मो धारयति प्रजाः (महाभारत, उद्योगपर्व)। सत्य और धर्म ही ऐतिहासिक युगों में मूर्तिमान् होकर राष्ट्रीय संस्कृति का रूप ग्रहण करते हैं। संस्कृति का इतिहास सत्य से भरे हुए मातृभूमि के हृदय की व्याख्या है। जिस युग में सत्य का रूप विक्रम से संयुक्त होकर सुनहले तेज से चमकता है, वहीं संस्कृति का स्वर्ण युग होता है। कवि की अभिलाषा है—'हे मातृभूमि, तुम हिरण्य के संदर्शन से हमारे सामने प्रकट हो। तुम्हारी हिरण्मयी प्ररोचना को हम देखना चाहते हैं।' (सा नो भूमे प्ररोजय हिरण्यसेव संदृशि, १८)। राष्ट्रीय महिमा की नाप यही है कि युग की संस्कृति में सुवर्ण की चमक है या चाँदी और लोहे की। हिरण्य संदर्शन या स्वर्ण युग की संस्कृति की स्थायी विजय के युग हैं।

पृथिवी पर सर्व प्रथम पैर टेकने का भाव जन के हृदय में गौरव उत्पन्न करता है। जन की ओर से कवि कहता है—मैंने अजीत, अहत और अक्षत रूप में सबसे पूर्व इस भूमि पर पैर जमाया था :—

अजीतोऽहतो अक्षतोऽध्यष्ठां पृथिवीमहम्। (११)

उस भू-अधिष्ठान के कारण भूमि और जन के बीच में एक अन्तरंग संबंध उत्पन्न हुआ। यह संबंध पृथिवीसूक्त के शब्दों में इस प्रकार है :—

माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः। (१२)

'यह भूमि माता है' और मैं इस पृथिवी का पुत्र हूँ।' भूमि के साथ माता का संबंध जन या जाति के समस्त जीवन का रहस्य है। जो जन भूमि के साथ इस संबंध का अनुभव करता है, वही माता के हृदय से प्राप्त होनेवाले कल्याणों का अधिकारी है, उसी के लिए माता दूध का विसर्जन करती है।

सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पयः। (१०)

जिस प्रकार पुत्र को ही माता से पोषण प्राप्त करने का स्वत्त्व है, उसी प्रकार पृथिवी के ऊर्ज या बल पृथिवी पुत्रों को ही प्राप्त होते हैं। कवि के शब्दों से—'हे पृथिवी ! तुम्हारे शरीर से निकलनेवाली जो शक्ति की धाराएँ हैं, उनके साथ हमें संयुक्त करो।'

यत्ते मध्यं पृथिवि यच्च नभ्यं यास्त ऊर्जस्तन्वः संबभूवु :।
तामु नो धेहि अभि नः पवस्व माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः ।। (१२)

वैदिक साहित्य कर्मण्यता, और सदा चलते रहने का उपदेश देता है। इस सम्बन्ध में एतरेय ब्राह्मण का चरैवेति गान विषेष रूप से उल्लेखनीय है। इसमें भगवान इन्द्र रोहित के पुत्र इन्द्र को सदा चलते रहने का उपदेश देते हैं।

बैठे हुए का सौभाग्य बैठा रहता है। खड़े होने वाले का सौभाग्य खड़ा हो जाता हैं। लेटे रहने वाले का सौभाग्य सोता रहता है और उठकर चलने वाले का सौभाग्य गतिशील हो जाता है। इससे चलते रहो।

आस्ते मग आसीनस्य उर्ध्वस्तिष्ठति निष्ठतः।
शेते निपद्यमानस्य चराति चरतो भगः ।।
चरैवेति चरैवेति।

सतयुग, त्रेता, द्वापर, कलियुग पुरुषार्थ और आलस्य की मात्रा के, अनुकूल एक ही व्यक्ति में रहते हैं। चल रहने से ही मनुष्य कृतयुगी बन जाता है।

सोते रहने वाले को कलि कहते है। अगड़ाई लेने वाले को द्वापर कहते हैं उठवैठने वाला त्रेता बनजाता है और चलते रहने वाला सतयुगी हो जाता है।

कलिः शयनो भवति संजिहानस्तु द्वापरः ।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरन् ।।

उन्नति के मार्ग में चलते रहना ही सच्ची प्रगतिशीलता है। इस प्रगति शीलता को अपनाना प्रत्येक भारतीय युवक का कर्तव्य होना चाहिए।

इस प्रकार वैदिक साहित्य में हमको अनेकों सुन्दर-सुन्दर उपदेश मिलते हैं।

रामायण और महाभारत

रामायण को आदि-काव्य माना गया है, किन्तु उसमें राम-चरित होने के कारण उसका धार्मिक महत्त्व भी है। रामायण में राम-चरित की ही मुख्यता है, इसलिए उसका धार्मिक महत्त्व अधिक है। वैसे तो रामायण भी एक प्रकार से इतिहास है, किन्तु महाभारत को विशेष रूप से इतिहास माना गया है। रामायण और महाभारत ने हमारे काव्य को जितनी सामग्री दी, उतनी और किन्हीं ग्रंथों से नहीं मिली। क्या रघुवंश, क्या उत्तर रामचरित, क्या भारविका का किरातार्जुनीय, और क्या माघ का शिशुपाल बध,इन्हीं से प्रभावित हैं। भास के नाटकों ने भी इन्ही से जीवन ग्रहण किया है। हिन्दू परम्परा में वाल्मीकि जी को रामचंद्रजी का समकालीन माना गया है क्योंकि लव और कुश ने जो बाल्मीकि जी के आश्रम में पालित-पोषित हुए थे, रामचंद्र जी के दरबार में बाल्मीकि रामायण सुनाई थी। यूरोपियन विद्वानों में इसके रचनाकाल के संबंध में मतभेद है, किन्तु बहुमत ईसा पूर्व १,००० वर्ष का है। बौद्ध जातकों में से एक दशरथ जातक है, उससे ज्ञात होता है, कि रामकथा बौद्ध जातकों के समय में प्रचलित थी, और बहुत अंशों में विकृत भी हो गई थी।

रामायण का उदय करुणा में हुआ है। तमसा नदी के तीर महर्षि बाल्मीकि ने देखा कि एक बहेलिए ने काम मोहित क्रौञ्चों की जोड़ी में से एक को मार डाला; उस समय उनका हृदय करुणा से द्रवित हो उठा और सहसा उनके मुख से यह श्लोक निकल पड़ा :—

मां निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥

बा. का. २।१५

अर्थात् हे निषाद ! तुम अनन्तकाल तक प्रतिष्ठा न पाओ, क्योंकि तुमने काम मोहित पक्षियों में से एक को मार डाला है। भारतीय संस्कृति

का मूल अहिंसा में है । आदि-काव्य का आदि-श्लोक ही करुणा-पूर्ण है । रामायण के आदि में ही भारतीय संस्कृति के मूल्यवान अंग आ गये हैं । बाल्मीकि जी एक आदर्श चरित की खोज में थे, रामायण में जो आदर्श पुरुष के गुण हैं, वे ही आर्य संस्कृति के मूल में हैं ।

कोन्वस्मिन्त्साँप्रतं लोके गुणवान्कश्चवीर्यवान् ।
धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च सत्यवाक्योदृढ़व्रतः ।।
चारित्रेणचकोयुक्तः सर्वभूतेषु को हितः ।
विद्वान्कः कः समर्थश्चकश्चैकप्रियदर्शनः ।।
आत्मवान्को जितक्रोधो द्युतिमान्कोऽनसूयकः ।
कस्य विभ्यतिदेवाश्चजातरोषस्य संयुगे ।।

वाल्मीकीय वा० १, २–४

हे मुने ! इस लोक में इस समय गुणवान्, वीर्यवान्, धर्मज्ञ, कृतज्ञ, सत्य बोलने वाला, दृढ़व्रत, सुन्दर चरित्र से युक्त, सर्व प्राणियों का हित करने वाला, विद्वान, सर्व शास्त्र का जानने वाला, सर्व कार्य में समर्थ, एक ही (अद्वितीय) प्रियदर्शन तथा आत्मा को जानने वाला, क्रोध को जीतने वाला, कांतिवान और असूया, (ईर्ष्या, डाह) से रहित पुरुष कौन है ? रण के बीच क्रोध करने से किससे सब देवता भय मानते हैं ?

रामायण का पहला और अन्तिम काण्ड प्रक्षिप्त माना जाता है किन्तु यह क्रौञ्च वध के अवसर पर रामायण की कथा के अवतरित होने की बात, कालिदास के रघुवंश में, ध्वन्यालोक में तथा भवभूति के उत्तर रामचरित में समान रूप से पाई जाती है । इसलिए यदि वह प्रक्षिप्त भी है, तो भी साहित्य में उसकी प्रतिष्ठा बहुत काल से है ।

रामायण में पारिवारिक जीवन के उच्चतम आदर्शों की पूर्ति हुई है । कवीन्द्र रवीन्द्र ने तो रामायण में राम-रावण-युद्ध को भी महत्त्व नहीं दिया । वह तो सीता और राम के पारस्परिक प्रेम, त्याग और तप

के आगे गौण हो जाता है। वे लिखते हैं :—"किन्तु रामायण की महिमा राम-रावण-युद्ध से नहीं है; यह युद्ध-घटना राम और सीता की दाम्पत्य प्रीति को उज्जवल बनाने के लिए उपलक्ष्य मात्र है। इससे केवल कविता का ही परिचय नहीं होता है, भारत में गृह और गृह-धर्म का कितना महत्त्व है; यह इसी से समझा जा सकता है। इस गृह-धर्म का आदर्श है—धर्म, अर्थ और काम को समान महत्त्व देना। श्री रामचन्द्र जी भरत जी को प्रश्न रूप से उपदेश देते हैं—धर्म, अर्थ और काम को समान महत्त्व देना चाहिए। भारतीय आदर्श केवल धर्म को ही महत्त्व नहीं देता है, वरन् अर्थ और काम को भी। एक के कारण किसी दूसरे में बाधा न पड़नी चाहिए।

कच्चिदर्थेन वा धर्ममर्थं धर्मेण वा पुनः।
उभौ वा प्रीतिलोभेन कामेन न विबाधसे॥
वा. रा. अयोध्या १००।६२

श्री रामचन्द्र जी पूछते हैं—"कभी अर्थ से धर्म को तो बाधा नहीं पड़ती? अथवा धर्म से अर्थ में तथा काम से दोनों में—अर्थात् धर्म और अर्थ में—बाधा तो नहीं पड़ती है?

रामायण में महाकाव्यों के सभी लक्षण पाए जाते हैं। उसमें सर्गों और छंदों का आवश्यक विस्तार ही नहीं है, वरन् भलाई और बुराई के संघर्ष में भलाई की विजय, चरित्रों की महानता और विचारों की उदात्तता भी है।

वाल्मीकि-रामायण में भगवान राम के शील के एक से एक बढ़िया उदाहरण मिलते हैं। उनके शील की सबसे बड़ी बात यह थी कि वे अपने प्रति किए हुए सौ-सौ अपकारों को तो भूल जाते थे किन्तु एक भी उपकार को सदा याद रखते थे :—

न स्मरत्यपकाराणां शतमप्यात्मवत्तया।
कथंचिदुपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति॥

इसी के उदाहरण में श्री रामचंद्र जी हनूमान जी से कहते हैं—

एकैकस्योपकारस्य प्राणान्दास्यामि ते कपे ।
शेषस्येहोपकाराणां भवाम् ऋणिनो वयम् ।।
वाल्मीकीय उत्तर ४०/२३

कपिश्रेष्ठ ! तुम्हारे एक-एक उपकार के लिए मैं प्राण दे सकता हूँ और शेष उपकारों के लिए मैं सदा तुम्हारा ऋणी रहूँगा ।

मर्यादा-पुरुषोत्तम श्री रामचंद्र जी का देश-प्रेम भी अनुकरणीय है । उनका यह वाक्य "जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी" एक आदर्श-वाक्य बन गया है । पूरा श्लोक इस प्रकार है :—

नेयं स्वर्णपुरी लंका रोचते मम लक्ष्मण ।
जननीजन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी ।।

रावण को परास्त करने के बाद श्री रामचंद्र जी कहते हैं कि :— हे लक्ष्मण ! मुझे यह स्वर्ण की लंका अच्छी नहीं लगती है, जननी और जन्म भूमि स्वर्ग से भी महत्त्वपूर्ण हैं ।

महाभारत—भारतीय संस्कृति का दूसरा विशाल ग्रंथ महाभारत है । इसके सम्बन्ध में कहा गया है—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के संबंध में जो कुछ इसमें है, वह और जगह भी है, और जो इसमें नहीं है, वह कहीं भी नहीं है।

धर्मेचार्थेच कामेच, मोक्षे च भरतर्षभ ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित् ।।

महाभारत में रामायण की भांति एक ही व्यक्ति का सम्बद्ध चरित नहीं है । उसमें कौरवों और पाण्डवों का संघर्ष तो मुख्य है किन्तु उसके सहारे अनेकों आख्यान उपाख्यान (जैसे शकुन्तलोपाख्यान,सावित्री उपाख्यान, न

लोपाख्यान, आदि) और नीतियाँ (जैसे विदुर नीति) उपदेशात्मक प्रवचन (जैसे भीष्म पितामह द्वारा धर्म की व्याख्या) आगए हैं : जगत-प्रसिद्ध दार्शनिक और नैतिक ग्रंथ श्रीमद्भग्वद्गीता इसी का एक अंग है ।

महाभारत के रचयिता कृष्ण द्वैपायन व्यास हैं । इसकी परम्परा ऐसी है कि व्यास जी ने इसे गणेश जी को लिखाया था । गणेश जी ने इस शर्त पर लिखना स्वीकार किया कि उनकी लेखनी रुकने न पावे और तब व्यासजी ने कहा कि बिना समझे कुछ न लिखें । इसलिए जब वे विश्राम लेना चाहते थे, कुछ कूट श्लोक लिखा देते थे और उनके समझने में गणेश जी जैसे विद्वानों को भी समय लग जाता था । व्यासजी ने इसे वैशम्पायन जी को सुनाया और वैशम्पायन जी ने जनमेजय को सुनाया और फिर सौती ने शौनकादि ऋषियों को कथा सुनाई, इस प्रकार इन संस्करणों में इसका कलेवर बढा होगा । वर्त्तमान आकार १,००,००० श्लोकों का है। वैशम्पायन द्वारा रचे गए भारत के श्लोकों की २४००० की संख्या बतलाई गई है । एक लाख श्लोक का जो महाभारत है, उसमें हरिवंश भी सम्मिलित है :—

रचनाकाल—महाभारत की रचना रामायण के बाद हुई है । कुछ यूरोपीय विद्वानों ने इसकी रचना वाल्मीकि-रामायण से पहले की बतलाई है। यह धारणा सर्वथा भ्रांत है । महाभारत लिखा गया था । वाल्मीकि-रामायण लव और कुश को मौखिक रूप से याद कराई गई थी ।

महाभारत की सभ्यता भौतिक रूप से बढ़ी-चढ़ी है, किन्तु उसके नैतिक आदर्श उतनें ऊँचे नहीं हैं जितने कि रामायण के । पाणिनि ने युधिष्ठिर, भीम तथा महाभारत आदि शब्दों की व्युत्पत्ति की है । पतंजलि ने ई० पू० १५० में महाभारत का उल्लेख ही किया है । आश्वलायन गृह्य सूत्रों में भी महाभारत का उल्लेख है, इस प्रकार हम देखते हैं कि महाभारत की कथा का प्रचार तो करीब करीब ५०० या ७०० ई० पूर्व में हो गया था । उसके वर्तमान रूप को भी ईसा पूर्व २०० वर्ष से नीचे नहीं ले जा सकते ।

महाभारत में यद्यपि नीति का उतना ऊँचा आदर्श नहीं है। जितना कि रामायण का, तथापि उसका आदर्श व्यावहारिक और न्याय परक है। 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत" अर्थात् जो अपने लिए प्रतिकूल है, उसको दूसरे के प्रति भी नहीं करना चाहिए। उसमें जहाँ मनुष्यों की स्वाभाविक प्रवृतियों और कमजोरियों का उल्लेख हुआ है, वहाँ आत्म-संयम और निवृत्ति के मार्ग का भी उपदेश दिया गया है। इसमें बलि आदि के विरुद्ध आवाज उठाई गई है।

महाभारत में घोर युद्ध अवश्य हुआ, किन्तु अन्त में शान्ति का वातावरण उपस्थित हो जाता है। युधिष्ठिर भी अपनी विजय पर उल्लसित नहीं होते हैं वरन् पांचो पाण्डव हिमालय की घोर ऊँचाई पर जाकर अपने प्राण त्याग कर देते हैं। पाण्डवों की ओर से जो छल-कपट नीति का व्यवहार हुआ है, उसके प्रति उन की ओर से पश्चाताप भी हुआ है।

श्रीमद्भगवद्गीता को सारे संसार ने माना है। यह भीष्म पर्व का एक अङ्ग है। इसमें भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्व आ गए हैं। उसमें जो स्थितप्रज्ञ के लक्षण दिए हैं, वे एक आदर्श पुरुष के लक्षण हैं। दैवी संपत्ति में जो गुण दिखाए गए हैं, वे सर्वथा अनुकरणीय हैं। गीता में दान, ज्ञान आदि के सात्त्विक, राजस और तामस रूप दिए गए हैं। मनुष्य यदि उन सात्त्विक आदर्शों को अपना सके तो वह अपने समाज के लिए गौरव बन सकता है। दैवी संपत्ति के गुण देखिए :—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥ १६।१-३

अर्थात् निर्भयता, अन्तःकरण की शुद्धि, ज्ञान, और योग में निष्ठा, इंद्रिय-निग्रह, यज्ञ, वेदाध्ययन, तप, सीधापन, (आर्जवम् शब्द ऋजु से बना है, ऋजु का अर्थ है, सीधा । जो कुटिल न हो) अहिंसा, सत्य, अक्रोध, शान्ति चुगली न करना, प्राणीमात्र पर दया, निर्लोभता, कोमलता, लज्जा, और अचंचलता, तेज, क्षमा, धैर्य, शौच, अद्रोह (किसी से दुश्मनी न करना) अपने को बड़ा न समझना, ये २६ गुण दैवी श्रेष्ठ लोगों के होते हैं ।

गीता में पूर्ण समता, भाव का प्रतिपादन किया गया है, क्योंकि सबमें एक ही आत्मा व्याप्त है ।

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनिचैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनिः ।।
५।१८

अर्थात् ज्ञानी लोग विद्या और विनय से संपन्न (विद्या के साथ विनय भी आवश्यक समझा गया है ।) ब्राह्मण में, हाथी में, गाय में, कुत्ते में और चाण्डाल में समान दृष्टि रखने वाले होते हैं । इसलिए गीता में आत्मोपम्य दृष्टि का उपदेश दिया गया है । भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि अपने सदृश सुख-दुख में सबको एकसा समझता है अर्थात् जिस चीज से मुझको सुख होगा, उससे दूसरे को भी सुख होगा, और जिससे मुझे दुख होगा, उससे दूसरे को भी दुख होगा, वही परम योगी हैं, देखिए :—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ।। ६।३२

श्रीमद्भग्वद्गीता में मनुष्य को अपनी आत्मा को ऊँचा उठाने का उपदेश दिया गया है। आत्मा को नीचा नहीं गिराना चाहिए । आत्मा का आत्मा ही बन्धु है, और आत्मा ही शत्रु है : यदि हम अपने को ऊँचा उठाते

हैं तो ऊँचा उठेंगे और यदि हम नीचा गिराते हैं तो नीचा गिरेंगे ! फिर हम अपने ही शत्रु बन जाएँगे । आत्मा का आत्मा ही मित्र है और आत्मा ही शत्रु है।

उद्धरेदात्मनाऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ।।
६।५

श्रीमद्भगवद्गीता की शिक्षा बड़ी उदार है । वह भगवान की उपासना के लिए कोई एक विशिष्ट मार्ग नहीं बतलाती । वह भगवत् प्राप्ति के सभी मार्गों का आदर करती है । भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो मुझे जिस तरह से भजता है, उसको उसी तरह फल देता हूँ । मनुष्य कोई से मार्ग का अनुकरण करे वह भगवान का ही मार्ग है ।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ।।
४–११

गीता की सबसे बड़ी और महत्त्व पूर्ण शिक्षा निष्काम कर्म की है । भगवान ने प्रवृत्ति और निवृत्ति के बीच का मार्ग बतलाया है । आसक्ति और अहंकारपूर्ण कार्यों से मनुष्य पाप का भागी होता है और विफलता से उसे दुःख होता है । ऐसे कर्म उसको आवागमन के चक्र में बांधे रहते हैं । कर्म से सन्यास लेकर बैठ जाने से समाज-व्यवस्था बिगड़ जाती है । निष्काम कर्म मनुष्य को कर्म-बंधन में नहीं डालता और समाज भी उसके लोकोपकारी कार्यों से वंचित नहीं होता । भगवान ने कर्म के फल का त्याग बतलाया है, कर्म का त्याग नहीं। फल का त्याग ही सबसे बड़ा त्याग है । "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन्" (२।४७ गी०) इसी सिद्धांत को लेकर कवीन्द्र रवीन्द्र ने कहा है :—

वैराग्य साधने जे मुक्ति से आमार नय ।
असंख्य बंधन मांझे हे आनन्दमय ! लभिव मुक्तिस्वाद ।।

श्रीमद्भगवद्गीता में ज्ञान, कर्म और भक्ति तीनों को ही महत्त्व दिया गया है। इस संबंध में विद्वानों में मतभेद है कि इसमें किसको प्रधानता दी गई है। अधिकांश विद्वानों का मत है कि यद्यपि इसमें तीनों हैं तथापि निष्काम कर्म को प्राथमिकता दी गई है। वास्तव में निष्काम कर्म के साथ ज्ञान और भक्ति दोनों ही लगे हुए हों, क्योंकि इनके बिना निष्काम कर्म संभव नहीं। गीता में भक्ति का आधार भगवान के बचन हैं—"सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकंशरण व्रज" (१८।६६) यही वैष्णव धर्म का मूल मंत्र है।

यह निष्काम कर्म की भावना भारतीय संस्कृति की अनुपम देन है। श्री मद्भग्वद्गीता के अतिरिक्त महाभारत के चार और रत्न माने जाते हैं। वे इस प्रकार हैं :—मनुस्मृति, गजेन्द्रमोक्ष, भीष्मस्तपराज, और विष्णु सहस्रनाम।

पुराण

रामायण और महाभारत की भांति पुराण ग्रंथ भी इतिहास-ग्रंथ हैं। इनका नाम इतिहास के साथ लिया जाता है। महाभारत में कहा है कि इतिहास और पुराण के सहारे वेद की व्याख्या की जाय। जिसने थोड़ा पढ़ा है, ऐसे व्यक्ति से वेद डरता है कि यह मेरी हत्या कर देगा।

"इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
विभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति॥

पुराण महाभारत से पहले या उनके समकालीन हैं। भारत की धर्म प्राण जनता में विशेष कर पुराणों में श्रीमद्भागवत् का विशेष मान है। भारतीय जीवन के बहुत से व्रत-उपवास इन्हीं के आधार पर चलते हैं। ये हिन्दू जीवन के प्राण हैं। छान्दोग्य उपनिषद में नारद मुनि ने सनत्कुमार से कहा है कि उन्होंने अन्य विद्याओं के साथ इतिहास-पुराण नाम के पाँचवें वेद का भी अध्ययन किया था। हिन्दू परम्परा में व्यासजी ही अट्ठारहों पुराणों के रचयिता माने जाते हैं किन्तु वे सब एक काल की सृष्टि नहीं प्रतीत होते। एक मत यह भी है कि एक बड़ा आदि पुराण था और उसका व्यवस्था पूर्ण विभाजन कर व्यास जी ने १८ पुराण बना दिए। व्यास का अर्थ ही है, व्यवस्था पूर्ण करने वाला। जो कुछ भी हो, व्यास जी पुराणों के रचयिता या सम्पादक थे किन्तु व्यास जी का नाम इनसे संबद्ध है। इनके प्रचारक सूत लोग होते थे। इसलिए पुराणों में स्थान स्थान पर "सूतोवाच" मिलता है। वेदों में जो बात सूत्र रूप में कही गई है उसको विस्तार देकर कथा रूप से विस्तार किया गया है। विष्णु के तीन पैर रखने की बात वेद में है "इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधेपदम" पुराणों में वह वामन अवतार की कथा के रूप में आयी है।

यद्यपि पुराणों में बहुत सी अविश्वसनीय बातें हैं, (वैसे तो बहुत सी अविश्वसनीय बातें विश्वसनीय बनती जाती हैं) तथापि वे इस कारण त्याज्य या उपेक्षणीय नहीं हैं। उनमें बहुत सी मूल्यवान सामग्री है। श्रीमद्भागवत् में उच्चकोटि के दार्शनिक सिद्धांत हैं। उसमें कपिल द्वारा सांख्य शास्त्र का उपदेश हुआ है अग्नि पुराण में साहित्य शास्त्र के मौलिक सिद्धांतों की विवेचना हुई है। अग्नि पुराण की भांति गरुड़ पुराण में भी रत्न परीक्षा आदि लोक-व्यवहार की चीजें हैं। उनमें आए हुए आख्यानों और उपाख्यानों में जीवन के तथ्य मिलते हैं। उसमें दी हुई वंशावलियों के द्वारा इतिहास-निर्माण की भी क्षमता है। (पारजीटर ने उनका विशेष उपयोग किया है।)

लक्षण—पुराणों के लक्षण देते हुए उनके प्रतिपाद्य विषय इस प्रकार बतलाए गए हैं :—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वंतराणि च ।
वंशानुचरितञ्चैव पुराणं पञ्च लक्षणम् ॥

अर्थात् सृष्टि की रचना, प्रलय, और पुनः सृष्टि, वंश, (देवताओं के) मन्वंतर (मनुओं के अनुसार), और वंशों के चरित का (अर्थात् राजवंशों का) वर्णन, ये पुराणों के पाँच लक्षण हैं।

संख्या—पुराण अठारह हैं। उनमें कुछ विष्णु को प्रधानता देने वाले हैं, कुछ शिव को और कुछ ब्रह्मा को। मत्स्य, मार्कण्डेय, भागवत, भविष्य, ब्रह्मांड, ब्रह्म वैवर्त, ब्राह्म, वामन, बराह, विष्णु, वायु व शिव, अग्नि, नारद, पद्म, लिंग, गरुड़, कूर्म और स्कंद ये अट्ठारह पुराण हैं।

इनके अतिरिक्त अठारह उप पुराण भी माने जाते हैं। भागवत नाम के दो पुराण हैं। एक वैष्णवों की भागवत और दूसरी देवी के उपा-

सकों की देवी भागवत । वैष्णव भागवत को महापुराण और देवी भागवत को उपपुराण कहते है और शैवों और शाक्तों में देवी भागवत को मान्यता दी गई है ।

इन सभी पुराणों में अन्य सब पुराणों की नामावलियां मिलती हैं । इस लिये इनका अनुक्रम करना बहुत कठिन कार्य है । वैसे पुराणों का उल्लेख कौटिल्य के अर्थ शास्त्र, धर्म शास्त्रों आदि में भी आता है । इस कारण उनमें से कुछ को पांचवी शताब्दी ईसा पूर्व का माना जाता है । किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि सभी इसी समय के हैं । धार्मिक दृष्टि से तो सभी भगवान वेद व्यास के रचे हुये हैं । भविष्य पुराण जिसमें गुप्त वंश तक का हाल है और आगे के भी संकेत हैं (रामानन्दी तिलकों का भी वर्णन है) उस काल से प्राचीन नहीं कहा जा सकता किन्तु धार्मिक लोगों का कहना है कि महर्षियों को दिव्य दृष्टि प्राप्त थी और वे आगे की भी लिख सकते थे आजकल के लोग इस दिव्य दृष्टि में विश्वास नहीं करते । उनका कहना है कि यदि ऐसा ही था तो उसमें वर्तमान का हाल क्यों नहीं है जिससे हम अपने लिये उसकी प्रमाणिकता सिद्ध कर लेते ।

पुराणों में ब्रह्मा, विष्णु, और महेश के साथ दुर्गा और गणेशजी की भी प्रतिष्ठा हुई । वैदिक देवता इन्द्र वरुण आदि को गौण स्थान मिला । पुराणों का धर्म लोक-धर्म है । इन्हीं के आधार पर वैष्णव शैव और शाक्त सम्प्रदाय चले । पुराणों में अपने–अपने प्रतिपाद्य देव की श्रेष्ठता अवश्य है । किन्तु दूसरे देवताओं की बुराई नहीं है । वैष्णव सम्प्रदाय को भागवत और पांचरात्र सम्प्रदाय भी कहते हैं । मथुरा में कृष्ण की पूजा का उल्लेख मेगस्थनीज (चौथी शताब्दी ई. पू.) ने भी किया है । यूनानी राजदूत हेलियो डोरस ने चौथी शताब्दी ईसा पूर्व में वैस नगर में एक गरुडध्वज स्तम्भ स्थापित किया था और उसमें अपने को भागवत धर्म का अनुयायी कहा है । भारत में शिव की उपासना को महत्व देने वालों की भी कमी

न थी। 'शैव' सम्प्रदाय में तन्त्रों का महत्व रहा। वे प्रमाण ग्रन्थ कहलाते हैं। शैव सम्प्रदाय को पाशुपत सम्प्रदाय भी कहते हैं। इसके घोर और सौम्य रूप दोनों ही हैं। शाक्त लोग भी शैव सम्प्रदाय से मिलते जुलते हैं। उनमें पशु बलि का अधिक प्रचार है। शैव में द्वैतवादी भी हैं और अद्वैतवादी भी।

काश्मीर का शैव समुदाय अद्वैत वादी है। महायान बौद्ध सम्प्रदाय शैव सम्प्रदाय से प्रभावित था। नाथ पंथी भी शैव होते हैं। पुराणों में भक्ति को अधिक महत्व दिया गया है।

श्रीमद्भागवत–वैष्णवों में श्रीमद्भागवत का विशेष मान है। इसमें १२ स्कन्द हैं और १८००० श्लोक हैं। इसमें श्रीकृष्ण जी की ब्रज लीलाओं का विशेष महत्व है "भागवते पण्डितानां परीक्षा।" श्री मद्भागवत में लीलाओं के अतिरिक्त दर्शन के गम्भीर तत्वों का भी वर्णन है। ग्यारहवां स्कन्द पूर्णरूपेण दार्शनिक है। उसमें भागवत धर्म का बड़ा सुन्दर निरूपण है। उसके पढ़ने से प्रतीत होता है कि गीता ज्ञान के देने वाले श्रीकृष्ण और श्रीमद्भागवत को श्रीकृष्ण एक ही हैं। श्री कृष्ण जी उद्धव जी से कहते हैं।

कुर्यात् सर्वाणि कर्माणि मदर्थं शनकैः स्मरन् ॥
मय्यर्पितमनश्चित्तो मद्धर्मात्ममनोरतिः ॥
११।२९।९

अर्थात् हे उद्धव जी। मेरे भक्तों को चाहिये कि अपने सारे कर्म मेरे लिये ही करें और धीरे–धीरे उनको करते समय मेरे स्मरण का अभ्यास बढ़ावें। कुछ ही दिन में उनका मन और चित्त मुझ में समर्पित हो जायगा।

मामेव सर्वभूतेषु बहिरन्तरपावृतम्।
ईक्षतात्मनि चात्मानं यथा खममलाशयः ॥
११।२९।१२

शुद्धान्तःकरण हो आकाश के समान बाहर और भीतर परिपूर्ण और आवरण शून्य मुझ परमात्मा को समस्त प्राणियों और अपने हृदय में स्थित देखे ।

ब्राह्मणे पुल्कसे स्तेने ब्रह्मण्ये ऽर्के स्फुलिङ्गके ।
अक्रूरे क्रूरके चैव समदृक पंडितो मतः ॥
नरेष्वभीक्ष्णं मद्भावं पुंसो भावयतो ऽचिरात् ।
स्पर्धासूयातिरस्काराः साहंकारा वियन्ति हि ॥
११।२६।१४,१५

अर्थात् जो साधक केवल इस ज्ञान दृष्टि का आश्रय लेकर सम्पूर्ण प्राणियों और पदार्थों में मेरा दर्शन करता है तथा ब्राह्मण और चंडाल, चोर और ब्राह्मण भक्त, सूर्य और चिंगारी, तथा कृपालु और क्रूर में समान दृष्टि रखता है उसे ही सच्चा ज्ञानी समझना चाहिये । जब सब नर नारियों में मेरी ही भावना हो जाती है तब थोड़े ही दिनों में साधक के चित्त से स्पर्धा ईर्ष्या, तिरस्कार और अहंकार आदि दोष दूर हो जाते हैं । इसका यह अर्थ न समझना चाहिये कि श्रीमद्भागवत केवल ज्ञान-प्रधान ग्रन्थ है । इन पुराणों में ज्ञान और भक्ति दोनों ही चीजें हैं किन्तु भक्ति की प्रधानता है । श्री मद्भागवत में नवधा भक्ति का उपदेश दिया गया है । नवधा भक्ति इस प्रकार है ।

श्रवणं कीर्तणं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ।७।५।२३

अर्थात् भगवान के गुणों का श्रवण, कीर्तन भगवान का स्मरण, पाद सेवन, पूजन, वन्दन । श्रीमद्भागवत में भक्त के लिये सर्व फल त्याग का उपदेश दिया है । वह जो कुछ मन वाणी और कर्म से करे वह सब नारायण के समर्पण करदे ।

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा ।
बुद्ध्याऽऽत्मना वानुसृतस्वभावात् ।।
करोति यद् यत् सकलं परस्यै ।
नारायणायेति समर्पयेत्तत् ।।

श्रीमद्भा ११।२।३६

भक्त अपने भगवान के दर्शन के लिये आपत्तियों का भी स्वागत करता है । माता कुन्ती श्री कृष्णजी से कहती हैं। जगद् गुरो यत्र तत्र सर्वत्र जहां हम रहें हमेशा तक विपत्तियां आवें जिनके कारण आवागमन से मुक्त करने वाला आपका दर्शन होता रहे ।

विपदः सन्तु नः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो ।
भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम् ।।

१।८।२५

श्रीमद्भागवत में धन–संग्रह और आवश्यकता से अधिक धन प्राप्ति के विरुद्ध भी आवाज उठाई गई है किन्तु वह भारतीय त्याग के अन्तर्गत है । उसमें भी "तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः" की भावना है ।

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम् ।
अधिकें योऽभिमन्येत सस्तेनो दण्डमर्हति ।।

पुराणों में भारत भूमि के लिये गर्व की भावना ओत–प्रोत हैः–

विष्णु पुराण में भारत भूमि के रहने वालों को धन्य कहा गया है । वह कर्म भूमि है मोक्ष की प्राप्ति के लिये देवताओं को भी वहां आना पड़ता हैः––

गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारत भूमि भागे ।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ।।

स्मृतियां

स्मृतियां जिन्हें धर्म-शास्त्र भी कहते हैं, मनुष्य के कर्तव्य, अधिकार, तथा समाज के शासन के नियम, मुकद्दमे—मामले जिन्हें 'व्यवहार' कहा गया है और वर्ण और आश्रमों के धर्म तथा मानव जीवन और समाज को व्यवस्थित रखने के लिये अन्य आवश्यक विषयों का विवेचन करती हैं। इनका आदर श्रुतिओं अर्थात् वेदों से कुछ ही कम है। ये वेदों की अनुगामिनी है। महाकवि कालीदास ने नन्दिनी (गुरु वसिष्ठ की गाय) के पीछे सुदक्षिणा को चलते हुये देख कर यही उपमा दी है कि जिस प्रकार स्मृतियां श्रुति के पीछे जाती है उसी प्रकार सुदक्षिणा—गौ के पीछे चलती है। 'श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्' स्मृतियों को भी वेद के साथ धर्म का स्रोत माना गया है। वेद स्मृति, सदाचार सज्जनों का आचरण, और जो अपने को अच्छा लगे अर्थात् जिसकी स्वयं अपनी आत्मा गवाही दे, ये ही चार प्रकार के धर्म के स्रोत या लक्षण हैं।

वेदः स्मृति सदाचारः स्वस्यच प्रिय आत्मनः ।
एतच्चतुर्विधि प्राहुः साक्षाद्धर्म्मस्य लक्षणम् ।।
६।९२

जहां श्रुति और स्मृति में भेद हो वहां श्रुति ही प्रमाण मानी जायगी अन्यथा स्मृतियों का वेद के समान ही अधिकार है। यदि श्रुतियों में भेद हो तो वे दोनों ही मान्य समझी जाती हैं। उनमें संगति बैठालना टीकाकारों और पंडितों का कार्य हो जाता है।

वैसे तो अत्रि, याज्ञवल्क्य, हारीत, विष्णु, वसिष्ठ, व्यास, वृहस्पति आदि प्रायः २० या २१ स्मृतियां हैं किन्तु उनमें मनु और याज्ञवल्क्य का स्थान बहुत ऊंचा है। इनके आधार पर हिन्दू जीवन शासित होता है। मनु

इन सब में प्राचीन है । पराशर संहिता में लिखा है कि सतयुग में मनु, त्रेता में गौतम का और द्वापर में शङ्ख और लिखित का और कलयुग में पराशर का धर्मशास्त्र प्रमाण माना जाता हैं । इससे यह तो प्रतीत होता है कि प्राचीन लोग भी युग के हिसाब से धर्म का माप दण्ड बदलता हुआ मानते थे किन्तु पराशर में व्यवहार (न्यायालय) की बातों का वर्णन नहीं है । इससे यह प्रतीत होता है कि मनु संहिता सबसे प्राचीन है । इसके निर्माण काल में मत भेद है । कोई लोग तो इसे सिकन्दर के आक्रमण से भी चार या पांच शताब्दी पूर्व करीब–करीब वाल्मीकीय रामायण के समय की मानते हैं और कोई इसको ईसा पश्चात द्वितीय शताब्दी तक घसीट ले जाते हैं । आजकल भी मनु और याज्ञवल्क्य ही प्रमाण माने जाते हैं । इनकी कई टीकायें हैं। याज्ञवल्क्य की मिताक्षरा टीका के आधार पर बंगाल को छोड़ कर प्रायः सभी भागों में दाय अर्थात् पैतृक सम्पति के बटबारे के नियम लागू होते हैं और बङ्गाल में दाय भाग का अधिकार माना जाता है ।

इन स्मृतियों से ही मनुष्य का जन्म से लेकर मृत्यु तक का जीवन शासित होता है । इनमें सभी वर्ग के लोगों के धर्म हैं । यद्यपि स्मृतियों में सभी बातों का वर्णन है तथापि उनमें वर्णाश्रम धर्म और संस्कारों की मुख्यता है ।

मनु ने राजा को ईश्वर-रूप माना है । 'महती देवता ह्येषां नररूपेण-तिष्ठति' किन्तु उनको ब्राह्मणों और मंत्रियों की सलाह से काम करने के लिये आदेश दिया है उसको स्वेच्छाचारी नहीं माना है। राजा को विनीत रहने के लिये भी कहा गया है। समाज की स्थिति के लिये दण्ड विधान को आवश्यक माना है । हर एक विभाग के लिये अलग–अलग अधिकारियों का विधान बतलाया है । जमीन की पैदावार का आठवे हिस्से से चौथाई हिस्से तक कर स्वरूप लेने के लिये कहा है । न्याय के सम्बन्ध में ब्राह्मणों को मृत्यु दण्ड

का निषेध किया हैं। गवाही के भी नियम दिये हैं। उसमें भी ब्राह्मणों को मुख्यता दी है। वर्णाश्रम धर्म में सब आश्रमों में गृहस्थाश्रम को अधिक महत्ता दी गई है क्योंकि जिस प्रकार वायु का सहारा लेकर और जीव जन्तु बसते हैं उसी प्रकार गृहस्थाश्रम के सहारे और आश्रम जीवित रहते हैं।

यथा वायुं समाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्व जन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः।
३।७७

गृहस्थ आश्रम का बड़ा ऊंचा आदर्श रखा गया है जहाँ भार्या से भर्त्ता सन्तुष्ट होता है और भर्त्ता से भार्या सन्तुष्ट होती है उस कुल में नित्य कल्याण का बास होता है। मनुः ३।५०

मनु ने युद्धादि के नियम भी बतलाये हैं जिसमें क्रूरता का निषेध किया गया है। मनु महाराज ने अहिंसा को भी महत्व दिया है, अहिंसा के साथ धर्म के चाहने वालों को अच्छे वाक्य बोलने का भी आदेश दिया है, 'वाक् चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता'। विषयोपभोग से मनु महाराज ने भोग द्वारा विषय वासना की शान्ति नहीं मानी है। उनका कहना है कि जिस प्रकार अग्नि में घी डालने से अग्नि बढ़ती है उसी प्रकार वासना की पूर्ति से वासना बढ़ती ही है।

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते॥
मनु. २।९४

मनुः स्मृति में आठ प्रकार के विवाह माने गये हैं—ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्रजापत्य, असुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच यह क्रम श्रेष्ठता के अनूकूल है। इसका अभिप्राय यह है कि उत्तम विवाह तो उत्तम थे ही किन्तु नीची कोटि के विवाहों को भी धर्म का संरक्षण प्राप्त था। ब्राह्म में कन्या को, यथा शक्ति अलंकृत करके सर्व गुण सम्पन्न कुलीन और योग्य युवक को जिसके

कोई रोगादि न हो आमन्त्रित करके, दिया जाता है। आजकल जो विवाह होते हैं उनमें राक्षस विवाह की भी छाप रहती है। बरात एक फौज के रूप में जाती है केवल जबरदस्ती नहीं की जाती। गान्धर्व विवाह वे होते थे जो स्वेच्छा से प्रेम पूर्वक वचन देकर किये जाते थे। स्मृतियों का समाज वर्णाश्रम धर्म प्रधान समाज है स्मृतियों में चार ही वर्ण आश्रम माने हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य द्विजाति कहलाते थे और सेवा और नौकरी करने वाले शूद्र, शूद्रों से भी नीचे अन्त्यज कहलाते थे। ये लोग अछूत थे। सब वर्णों के अपने अपने जाति धर्म थे। ब्राह्मणों का धर्म पढना-पढाना, यज्ञ, करना-कराना और दान देना और लेना था। क्षत्रियों का धर्म प्रजा की रक्षा करना दान, यज्ञ, और पढना है। वैश्यों का धर्म पशुओं की रक्षा, दान, यज्ञ, अध्ययन, ब्याज लेना और कृषि करना है। तीनों वर्णों की सेवा करना शूद्रों का धर्म है मनु. १।८८।९१। यह विभाजन समाज में कार्य-विभाजन पर आश्रित था। मनुस्मृति आदि में जाति को जन्म से ही माना है। यद्यपि पुराणों आदि में जाति के परिवर्तन के भी उदाहरण है। सत्यकाम जावाल को उसके सत्य बोलने के कारण उसके गुरू ने ब्राह्मण स्वीकार कर लिया था।

आश्रम चार माने गये हैं। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास। ब्रह्मचर्य में विद्याध्ययन होता है। गृहस्थ में विवाह करके पितृऋण, ऋषि-ऋण और देव ऋण को चुकाते हुए जीवन यात्रा की जाती है। वानप्रस्थ में स्त्री के साथ रहकर भी जंगल में स्वाध्याय और चिन्तन मनन होता है। और सन्यास में शिखा सूत्र त्याग कर भिक्षा वृत्ति कर उपदेश देना होता है। ये व्यक्ति के जीवन के विभाग हैं। प्रत्येक व्यक्ति को इन आश्रमों में रहना पड़ता है। बिना गृहस्थाश्रम में रहे सन्यास नहीं लिया जा सकपा है।

महाकाव्य

काव्य के कई विभाग किये गये हैं। इनमें दृश्य और श्रव्य मुख्य हैं। दृश्य काव्य नाटकादिकों को कहते हैं। वे अभिनय प्रधान होते हैं और श्रव्य काव्य सुने जाते हैं, जैसे रामायण आदि। शकुन्तला या अभिज्ञान शाकुन्तल दृश्य काव्य का अच्छा उदाहारण है। श्रव्य काव्य के दो भेद हैं—प्रबन्ध और मुक्तक। प्रबन्ध में आगे पीछे का तारतम्य रहता है। मुक्तक इस बन्धन से मुक्त होता है। प्रबन्ध काव्य के भी दो भेद हैं—महाकाव्य और खण्ड काव्य। खण्ड काव्य में एक ही प्रधान घटना रहती है। कालीदास का रघुवंश महाकाव्य है और मेघदूत खण्ड काव्य है। महाकाव्य आकार में तो बड़ा होता ही है किन्तु इसके चरित नायक भी प्रख्यात और उदात्त वृत्तियों के होते हैं। दण्डी के काव्यादर्श और विश्वनाथ के साहित्य दर्शन में जो महाकाव्य के लक्षण दिये गये हैं उनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

महाकाव्य की कथावस्तु कल्पित न होकर इतिहास पुराण के किसी आख्यान पर आश्रित होना चाहिये। उसमें श्रृंगार अथवा वीर रस का प्राधान्य होना चाहिये। उसमें नगर समुद्र, पर्वत, ऋतु सूर्योदय, चन्द्रोदय, उद्यान बिहार, जलक्रीडा, यात्रा, युद्धादि का वर्णन होना चाहिये। शेष नियम आकार सम्बन्धी हैं।

महाकाव्यकारों में दस कवि मुख्य हैं उनके नाम इस प्रकार हैं—

कालिदास, अश्वघोष, भारवि, भट्टि:, कुमार दास, माघ, रत्नाकर, कविराज, और श्रीहर्ष। इनमें से हम कालिदास, अश्वघोष, भारवि, भट्टि, माघ और श्रीहर्ष का संक्षिप्त परिचय देंगे।

कालिदास—कालिदास संस्कृत काव्य के उज्जवलतम रत्न माने जाते हैं। उनके सम्बन्ध में कहा गया है:—

पुरा कवीनां गणनाप्रसङ्गे कनिष्टकाधिष्ठितकालिदासः
अद्यापि तत्तुल्य कवेरभावादनामिका सार्थवती बभूव ।।

अर्थात् प्राचीन काल में कवियों की गणना के प्रसङ्ग में पहले कन अङ्गुलि पर कालिदास का नाम गिना गया। दूसरा उस जोड़ का न मिलने के कारण कन उंगली के बाद की उंगली का अनामिका नाम आज भी सार्थक हो रहा है। कन उंगली के बाद की उंगली अनामिका ही कहलाती है (अङ्गुलियों के नाम इस प्रकार हैं——कनिष्टका, अनामिका, मध्यमा, तर्जनी और अङ्गुष्ठ) उनकी उपमाओं की बहुत ख्याति है——"उपमा कालिदासस्य" कालिदास को लोग पहली शताब्दी ईसा पूर्व का मानते हैं। वे विक्रमादित्य के नव रत्नों में से थे। विक्रम सम्वत ईसा से ५७ वर्ष पूर्व का है। दूसरे मत के लोग इनको ईसा पश्चात् चौथी शताब्दी का मानते हैं। उनका कहना है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने विक्रमादित्य की पदवी धारण की थी, कालिदास ने रघुवंश और कुमार सम्भव दो महाकाव्य लिखे हैं। मेघदूत उनका प्रसिद्ध खण्डकाव्य है। रघुवंश में वैष्णव प्रभाव है और कुमार सम्भव में शैव। वे स्वयं शैव थे क्योंकि रघुवंश के प्रारम्भ में भी उन्होंने शिवजी की प्रार्थना की है——'जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ' विष्णु और शिव का अभेद स्थापित करना और उनको समान रूप से मानना प्रायः सभी महाकवियों का लक्ष्य रहा है। यह समन्वय भावना भारतीय संस्कृति की एक विशेषता रही है।

रघुवंश में महाराज दिलीप से लगाकर रामचन्द्र जी तक के वंशजों का वर्णन है। इसमें १९ सर्ग हैं। पहले ९ सर्गों में राम के चार पूर्वजों का वर्णन है। दस से पन्द्रह तक राम का वर्णन है और शेष चार में राम के वंशजों का। कालिदास ने रघुवंश के प्ररम्भ में रघुवंशियों के जो गुण दिये हैं वे भारतीय संस्कृति के परिचायक हैं। भारतीय संस्कृति में धर्म, अर्थ, काम सभी को समान महत्व दिया है।

त्यागाय संभृतार्थानां सत्याय मितभाषिणाम्
यशसे विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम् ।।

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम् ।
वार्द्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम् ।।
रघूणामन्वयं वक्ष्ये तनुवाग्विभवोऽपि सन् ।
रघु. १।७–९

अर्थात् जो लोग त्याग के लिये धन संचय करते थे सत्य के लिये थोड़ा बोलते थे (किसी दम्भ या घमण्ड के कारण नहीं) यश के लिये रण में विजय प्राप्त करने की इच्छा रखते थे (न कि दूसरों का राज्य हड़पने के लिये या साम्राज्य बढ़ाने के अर्थ) सन्तानोत्पति करके पितृ ऋण से मुक्त होने के लिये विवाह करते थे (कामोपभोग के लिये नहीं) और जो लोग शैशव काल में विद्याभ्यास करते थे, यौवन में विषयोपभोग करते थे, वृद्धावस्था में मुनि वृति धारण करते थे और अन्त में योग द्वारा (आज कल की भांति रोग द्वारा नहीं) शरीर छोड़ते थे उन रघुवंशियों के वंश का मैं वर्णन करता हूं यद्यपि मेरें पास वाणी का वैभव बहुत क्षीण है ।

रघुवंशियों में महाराजा दिलीप के बहुतसे अनुकरणीय गुण थे जो आर्य संस्कृति के परिचायक हैं। वे निडर होकर शरीर की रक्षा करते थे । बड़े धीरज के साथ धर्म का पालन करते थे । लोभ छोड़ कर वे धन संग्रह करते थे (लोभी मनुष्य संग्रह के औचित्य की ओर ध्यान नहीं देता) और मोह छोड़ कर बिना आसक्ति के संसार के भोग भोगते थे रघु. १।२१। इसमें धर्म, अर्थ और काम इन तीनों की साधना आ गई ।

रघुवंश में विशेष कर महाराजा दिलीप के प्रसङ्ग में गौ-रक्षा, अहिंसा और भौतिक शरीर की अपेक्षा यश शरीर को महत्ता देने की बात बड़े स्पष्ट रूप से उभार में आती है ।

गौ की सेवा जैसी महाराज दिलीप ने की थी वह आदर्श सेवा थी । उसकी रक्षा के लिये वे अपने प्राण तक न्योछावर करने को तैयार थे । वे सभी प्रकार के प्रलोभनों से ऊंचे उठे रहे । महाराज दिलीप

सिंह से कहते हैं कि यदि तुम मेरे ऊपर दया करके मेरी रक्षा ही करना चाहते हो तो मेरे यश शरीर पर दया करो (अर्थात् मेरे द्वारा कोई ऐसा कार्य न होने दो जिससे मेरे यश को बट्टा लगे)। शरीर जैसे भौतिक पिण्डों पर जिनका एक मात्र परिणाम ध्वंस होना है, मुझ जैसे जीव आस्था नहीं रखते।

किमप्यहिंस्यस्तव चेन्मतोऽहं यशः शरीरे भव मे दयालुः।
एकान्तविध्वंसिषुमद्विधानो पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु।।
रघु० २।५७

महाराज रघु ने त्याग तो इतना किया था कि उन्होंने दान देते देते अपनी सारी विभूति को मिट्टी के पात्र में सीमित कर 'मृत्पात्रशेषामकरोद्विभूतिम्'

सती साध्वी सीता में पतिव्रत धर्म का हमको बहुत ऊंचा आदर्श मिलता है। निर्वासित होने पर भी सीता यही कहती है कि प्रसूतिकार्य से निवृत्ति होने पर मैं सूर्य से हाथ जोड़ कर यही प्रार्थना करूंगी कि जन्म जन्मान्तर राम ही मुझको पति मिलें और कभी वियोग न हो।

साहं तपः सूर्यनिविष्टदृष्टिरूर्ध्वं प्रसूतेश्चरितुं यतिष्ये।
भूयो यथा मे जनमान्तरेऽपि त्वमेव भर्ता न च विप्रयोगः।।
रघुवंश १४–६६

इसमें जन्मान्तर बाद का भी उल्लेख है जो भारतीय संस्कृति का मूल स्तम्भ है। सीता जी अपने निर्वासन को जन्मान्तर पातकों का फल बतलाती हैं।

कुमार सम्भव में कुमार कार्तिकेय की कथा है। कुमार सम्भव के १७ सर्ग हैं किन्तु पंडितों का विचार है कि कालिदास के लिखे हुये केवल आठ ही सर्ग हैं क्योंकि मल्लिनाथ की टीका केवल आठ ही सर्गों पर है। कुमार सम्भव का मूल संदेश यही है कि कामोपभोग में संयम की

आवश्यकता है। शिव ने भी कामदेव को भस्म करके ही शक्ति का वरण किया है और पार्वती भी घोर तप के पश्चात ही शिव को प्राप्त कर सकी हैं। पार्वती जी अपने प्रेम में शिव के अमङ्गल भेष से भयभीत नहीं हुईं और बहकाने में भी नहीं आईं। पार्वती जी ने अनुभव किया है कि जिन शिव को वे अपने सौंदर्य से नहीं पा सकीं उनको अपने तप और मन की निश्चलता से पा सकेंगी क्योंकि वैसा पति और वैसा प्रेम अन्यथा (तप के बिना) दुर्लभ है।

इयेष सा कर्तुमवन्ध्यरूपतां ।
समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः ।
अवाप्यते वा कथमन्यथा द्वयं,
तथा विधं प्रेम पतिश्च तादृशः ।।
कुमार सम्भव ५।२

कुमार सम्भव के सम्भोग श्रृंगार में चाहे अश्लीलता आ गई हो और प्रवाद भी हैं कि उस वर्णन के लिये कालिदास को कुष्ट रोग से पीड़ित होना पड़ा किन्तु उन्होंने सिद्धांत रूप से सच्चे सौंदर्य और पाप का कोई संयोग नहीं माना है।

यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये न रुपमित्यव्यभिचारितद्वचः ।
कुमार सं. ५।३६

अर्थात् यह जो कहा जाता है कि रूप पाप वृत्ति के लिये नहीं है यह वचन बिलकुल ठीक है। कुमार सम्भव में पत्नि को सब धर्म कार्यों का मूल कारण माना है। 'क्रियाणां खलु धर्म्माणां सत्पत्नि मूल कारणम्' इसी लिये काम देव को भस्म करने के पश्चात महादेव जी ने विवाह करने का विचार किया।

भारतीय संस्कृति का यह महान संदेश रहा कि प्रेम में कर्तव्य की अवहेलना न होनी चाहिये। तप और संयम प्रेम के लिये भी आवश्यक है।

मेघदूत में यक्षकी असावधानी के ही कारण उसको निर्वासन का शाप भुगतना पड़ा। यही हाल शकुन्तला का हुआ। रघुवंश में सुदक्षिणा की भूल के ही कारण उसे कुछ दिनों निस्सन्तान होने की मानसिक पीड़ा सहनी पड़ी। भारतीय संस्कृति में काम को उचित स्थान दिया गया है किन्तु अबाधित विलास के वह सदा विरुद्ध रही है।

अश्वघोष—ये बौद्ध दार्शनिक और कवि थे। इनको हिन्दू शास्त्रों का भी अच्छा ज्ञान था ये कनिष्क के आश्रित थे। इनका समय ७८ ईसवी माना जाता है। पाश्चात्य विद्वान जो कालिदास को चौथी शताब्दी का (ईसा पश्चात) कहते हैं अश्वघोष को ही पहला संस्कृत कवि मानते हैं। इनके काव्य का चीनी में भी अनुवाद हुआ था। इनके दो ग्रन्थ हैं—बुद्ध चरित और सौन्दर नन्द। इनका बुद्ध चरित चीनी परम्परा के अनुसार २८ सर्ग का था। उसके अब १८ ही सर्ग उपलब्ध हैं। एडविन आर्नोल्ड का Light of Asia और शुक्ल जी का बुद्ध चरित इसी से प्रभावित है। दार्शनिक होते हुये भी ये शृंगारिक वर्णनों और हृदय की कोमल भावनाओं के चित्रण में पटु थे।

सिद्धार्थ के जन्म के समय पृथ्वी के उल्लास को देखिये:—

शाखासु शाखासु समुद्भवद्भिर्विचित्रपत्रैः शतपत्रजातैः।
चकाशिरे तस्य विलोकनाय संजातनेत्रा इव शाखिनोऽपिः॥
३।१२

अर्थात् वृक्षों की प्रत्येक शाखाओं में रंग-विरङ्गे पत्रों के साथ कमलों के समूह निकल आये जो ऐसे मालुम होते थे मानो वृक्ष सिद्धार्थ के दर्शन के लिये नेत्र वाले हो गये हों। और देखिये:—

ववर्ष वर्षासमयं विनापि वलाहको वारिधिधीरघोषः।
आश्चर्य कर्माणि वभूवुरित्थं जाते सतामग्रसरे कुमारे॥ ३।२१

अर्थात् गम्भीर शब्द करने वाले बादल समय के बिना ही बरसने लगे। इस प्रकार सज्जनों में अग्रगण्य कुमार के जन्म के समय आश्चर्य कर्म हुये।

कुमार सिद्धार्थ का संसार से वैराग्य होने का वर्णन देखिये। यह वैराग्य की भावना अधिकांश महापुरुषों में हुई है।

धिग् यौवने न जरया समभिद्रुतेन,
आरोग्य धिग्विविधव्याधिपराहतेन।
धिग् जीवतेन पुरुषो न चिरस्थितेन,
धिक् पंडितस्य पुरुषस्य रतिप्रंसङ्गैः ।।

अर्थात् उस यौवन को धिक्कार है जिसके पीछे बुढ़ापा दौड़ता है, उस आरोग्य को धिक्कार है जो व्याधि से ग्रस्त हो जाय और उस जीवित रहने को भी धिक्कार है जिसमें पुरुष चिरस्थायी न हो और पंडितों के रतिरंग प्रसङ्ग को भी धिक्कार है। बौद्ध धर्म की धारा त्याग और वैराग्य की ओर झुकी हुई थी। अबाधित विलास की बहुत सी प्रतिक्रियायें हुईं थीं उनमें से बौद्ध धर्म की एक प्रतिक्रिया भी है। छन्दक के बिना बुद्ध के लौट आने पर यशोधरा उसे बड़ा सुन्दर उपालम्भ देती है।

प्रियेण वश्येन हितेन साधुना,
त्वया सहायेन यथार्थकारिणो।
गतोऽर्यपुत्रो ह्यपुनर्निवृत्तये,
रमस्व दिष्ट्या सफलःश्रमस्तव ।।
८।३४

अर्थात् तुम प्रिय थे, अपने अधीन थे, हित करने वाले थे, सज्जन थे समय पर ठीक–ठीक कार्य करते थे, और तुम्हारी ही सहायता से मेरे जीवनधन न लौटने के लिये चल दिये। आनन्द करो, तुम्हारा श्रम सफल हुआ।

सौन्दरनन्द में भगवान बुद्ध के उपदेश प्रभावित हो नन्द द्वारा सुन्दरी के त्याग सुन्दरी और नन्द की वियोग की कथा के साथ बौद्ध धर्म की शिक्षा भी है।

भारवि—इनका समय ६०० ईसवी के आसपास का है क्योंकि ६३४ के एहोल के शिला लेखों में इनका उल्लेख है। किरातार्जुनीय इनका कीर्ति स्तम्भ है। यह उनका एक मात्र ग्रन्थ है। इसमें १८ सर्ग हैं। इसका कथा—नक महाभारत के वन पर्व से लिया गया है। यह वीर-रस-प्रधान ग्रन्थ है। इसमें द्रौपदी और भीम, युधिष्ठर को फिर लड़ने को प्रोत्साहन देते हैं। किरातार्जुनीय में भारतीय नारी की वीर भावना और उसके आत्म—गौरव के दर्शन होते हैं। उसके हृदय की व्यथा ही, जो पाण्डवों की दयनीय दशा के दर्शन से उत्पन्न हुई है, उसे भाषण की नारीधर्मोचित शालीनता छोड़ कर युधिष्ठर को उत्तेजित करने के लिये प्रेरित करती है। वह 'शठं प्रति शाठ्यं कुर्यात्' का उपदेश देती है—'व्रजन्ति ते मूढ़धियः पराभवं भवन्ति मायाविषु येन मायिनः' (१।३०) अर्थात् वे मूढ़ लोग पराजय को प्राप्त होते हैं जो मायावियों के प्रति मायावी नहीं बनते हैं।

द्रौपदी के उपालम्भ कुछ तीखे भी हो जाते हैं। वह कहती है कि अन्याय देख कर चुप रहना वीरोचित कार्य नहीं है। श्रेष्ठ लोगों के लिये गर्हित अर्थात् घृणा योग्य मार्ग पर चलने वाले आपको स्वयं आप का ही उद्दीप्त क्रोध, जैसे उद्दीप्त अग्नि जिसकी ऊंची ऊंची शिखायें हो गई हैं, सूखे शमी वृक्ष को (छोंकर का पेड़ जो जल्द जल जाता है) शीघ्र ही जला देती है, वैसे ही क्यों नहीं भस्म कर देती है ? शमी वृक्ष अग्नि-गर्भा होता है वह स्वयं ही अपनी अग्नि से जल उठता है।

भवन्तमेतर्हि मनस्विगर्हिते,
विवर्तमानं नरदेव वर्त्मनि ।
कथं न मन्युर्ज्वलयत्युदीरितः,
शमीतरुं शुष्कमिवाग्निरुच्छिखः ॥
१।३२

इसकी द्रोपदी ने पहले ही क्षमा मांग ली है। वैसे भी 'हितं मनोहारिच

दुर्लभं वचः' हित वचनों का मनोहर होना दुर्लभ है। युधिष्ठिर स्वाभाविक धर्मनिष्ठा तथा परिपक्व विचार के कारण सावधानी का आदेश देते हैं।

सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्।
वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वमेव सम्पदः॥
२।३०

एक साथ बिना सोचे-विचारे कोई काम नहीं करना चाहिये। अविवेक बड़ी आपत्तियों का कारण होता है। जो आदमी सोच विचार कर काम करता है उसके गुणों पर मुग्ध होकर सम्पत्ति स्वयं ही उसका वरण करती है। अन्त में महर्षि वेद व्यास के परामर्श से अर्जुन तप करने जाता है। सुराङ्गनाओं ने उसकी तपस्या भंग करनी चाही किन्तु वे प्रलोभन में न आये। अन्त में किरात भेष धारण कर स्वयं शिवजी आये हैं और अर्जुन की युद्ध परीक्षा लेकर उसे पाशुपत अस्त्र प्रदान किया।

भारवि के अर्थ गौरव की प्रशंसा की गई है। 'भारवेरर्थगौरवम्' भीम के वाक्यों के अर्थ गौरव की जो प्रशंसा युधिष्ठर ने की वह भारवि के किरातार्जुनीय पर भी लागू होती है। और कुछ विशेष भावात्मक रूप से।

स्फुटता न पदैरपाकृता नच न स्वीकृतमर्थगौरवम्।
रचिता पृथगर्थता गिरां न च सामर्थ्यमपोहितं क्वचित्॥
२।२७

भारवि ने कहीं-कहीं पाण्डित्य-प्रदर्शन की ओर भी रुचि दिखाई है। एक श्लोक में उन्होंने केवल नकार का ही प्रयोग किया है। ऐसे शब्द चमत्कार में भी भाव का तिरस्कार नहीं हुआ है। इसी के साथ इसमें वीरोक्तिओं के साथ संयम और वास्तविक गुणों की स्वीकृति के अपूर्व दृश्य मिलते हैं। मत भेद होते हुए भी मर्यादा का तिरस्कार नहीं हुआ है। अर्जुन जैसे वीर को भी तपस्या द्वारा युद्ध की तैयारी करनी पड़ती

है। तैयारी और तप की दृढ़ता और कार्य-सिद्धि के लिये योग्यता प्राप्त करना ही इसका सांस्कृतिक संदेश है.... ।

भट्टि—भट्टि का समय ईसा की छठी शताब्दी के उत्तरार्द्ध या सातवीं के आरम्भ में बैठता है। रावण वध या भट्टि काव्य की कथा रामायण से लीगई है। पाण्डित्य-प्रदर्शन की प्रवृत्ति का आरम्भ जो हम भारवि में देखते हैं भट्टि में पूर्ण रूपेण दिखाई पड़ता है। उसमें राम कथा के सहारे व्याकरण के नियमों के उदाहारण उपस्थित करने की प्रवृत्ति है। किन्तु उसमें कृत्रिमता नहीं आने पाई है। उसमें २२ सर्ग हैं। अलंकारों के वर्णन बड़े सुन्दर ढ़ंग से किये गये हैं। एकावली का एक उाहारण लीजिये।

न तज्जलं यन्न सुचारुपंकजं न पंकजं तद्यलीनषटपदम्।
न षट पदोऽसौ न जुगुञ्ज यः कलं न गुञ्जितं तन्न जहार यन्मनः॥
२।१६

(पं. चन्द्रशेखर पाण्डेय कृत संस्कृत सा. की रूप रेखा के उद्धरण से)

उस शरद ऋतु में ऐसा कोई तालाब नहीं जिसमें सुन्दर कमल न खिले हों। ऐसा कोई कमल नहीं जिस पर भौंरे न हों और ऐसा कोई भौंरा नहीं जो गुञ्जार न रहा हो तथा ऐसी कोई गुञ्जार नहीं जो मन को न हरती हो।

माघ—इन के असली नाम का पता नहीं है। माघ ने यह नाम क्यों स्वीकार किया इसका बिलकुल ही पता तो नहीं है किन्तु कहा यह जाता है कि भारवि से इनकी प्रतिद्वन्द्विता थी। भारवि का अर्थ है सूर्य का प्रकाश। माघ मास में सूर्य का प्रकाश मन्द पड़ जाता है। माघ का विचार था कि उनकी प्रतिभा के आगे भारवि की प्रतिभा मन्द पड़ गई थी। किरातार्जुनीय और नैषधचरित के साथ माघ के शिशुपाल वध की गणना संस्कृत महाकाव्यों के वृहतत्रयी में होती है।

शिशुपाल वध की रचना किरातार्जुनीय के आदर्श पर हुई है। दोनों के ही नायक तप के लिये जाते हैं और दोनों में ही पर्वतों का सुन्दर वर्णन प्राप्त है। प्रकृति-चित्रण महाकाव्यों की विशेषता रही है और भारतीय संस्कृति में भी प्रकृति को विशेष महत्व मिला है। किरात के सर्गों के अन्तिम पद्यों में लक्ष्मी शब्द आता है। जैसे किरात के द्वितीय सर्ग के अन्तिम श्लोक में—'लक्ष्मीमुवाह सकलस्य शशाङ्कमूर्तेः' तो माघ में श्री। जैसे शिशुपाल वध के बारहवे पद के अन्तिम श्लोक में सदसि सरित सा श्री भर्तुवृहर्दर्थ मण्डलेः। दोनों के प्रारम्भ में श्री शब्द आता है। किरात में जैसे वर्णन के उदाहारणात् 'न' के अनुप्रासमय श्लोक हैं वैसे माघ में भी 'द' आदि के और कहीं-कहीं दो-दो वर्णों के अनुप्रास हैं। शिशुपाल वध में २० सर्ग हैं।

शिशुपाल वध में भगवान कृष्ण का ईश्वरत्व स्वीकार करते हुए उनको धीर-वीर के रूप में दिखाया गया है। वे गालियों तक सुनते रहते हैं और विचलित नहीं होते। इसमें वीर रस के साथ शृंगार का भी पुट रहा है। संस्कृत और पीछे हिन्दी के महाकाव्यों में यह परम्परा सी बन गई थी। माघ में भाव और अलंकार दोनों का ही प्राचुर्य है। जनता ने उनको बहुत मान दिया है। उनके सम्बन्ध में कहा जाता है

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयोगुणाः।।

कालिदास में उपमा की श्रेष्ठता है। भारवि में अर्थ-गौरव का चमत्कार है और दण्डी में पदलालित्य की विशेषता। माघ में तीनों ही गुण हैं। माघ में वर्णन के वैचित्र्य तथा सरसता के साथ क्लिष्टता भी है।

श्रीहर्ष—श्रीहर्ष नैषधीय चरित के कर्ता हैं। जनता से मान प्राप्त करनेमें ये माघ से भी आगे चढ़े बढ़े हैं। उनके सम्बन्ध में प्रसिद्ध है—'उदिते नैषिधे काव्ये क्व माघः क्वच भारविः' नैषध के उदय होने पर कहां माघ और

कहां भारवि ? यह मत सर्वमान्य नहीं है। एक किंवदन्ती है कि श्री हर्ष जब काव्य प्रकाश के कर्त्ता मम्मटाचार्य को अपना काव्य सुनाया तब उन्होंने कहा—'अगर तुमने इस वाक्य को यदि कुछ दिन पहले सुनाया होता तो मेरा बड़ा उपकार होता'। पूछने पर कि क्या उपकार होता उन्होंने कहा कि दूषणों के अध्याय के लिये सब उदाहरण एक ही स्थान पर मिल जाते। यह भी एक अत्युक्ति है।

श्रीहर्ष ने अन्य कवियों के विपरीत अपना वर्णन देने में सकोच नहीं किया है। उन्होंने अपनी पुस्तक के प्रत्येक सर्ग के पीछे अपने माता पिता का नाम कुछ गर्व के साथ दिया है। उनके पिता का नाम श्री हरि था और उनको 'कविराजराजि मुकुटालंकार हीरः' कहा है और उनकी माता का नाम मामल्ल देवी था। श्रीहर्ष हर्ष वर्द्धन सम्राट से सर्वथा भिन्न हैं। ये कान्यकुब्जेश्वर महाराज जयचन्द्र की सभा मे जाया करते थे और उनसे आदर सम्मान सूचक आसन और दो बीड़े पाया करते थे। 'ताम्बूलयद्वयं आसनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्' इनका समय बारहवी शताब्दी का उत्तरार्द्ध है।

नैषध चरित की कथा महाभारत से ली गई है किन्तु कवि ने महाभारत की कष्ट सहिष्णुता के स्थान में श्रृंगारिकता को अधिक स्थान दिया है। उन्होंने अपने काव्यों को 'श्रृंङ्गारामृतशीगु' अर्थात् श्रृंगार रूपी अमृत का चन्द्रमा कहा है। किन्तु इस श्रृंगारिकता में व्यक्तित्व का महत्व पूर्णरूपेण प्रकाश में आता है। दमयन्ती नल पद मुग्ध है, वह नल के सम्बन्ध में कहती है।

मनस्तु यं नोज्झति जातु यातु मनोरथः कंठ पथं कथं सः।
का नाम बाला द्विजराजपाणिग्रहणाभिलाषं कथयेदभिज्ञा॥ ३।५१

अर्थात् मन जिस मनोरथ को नहीं छोड़ता और जिसको मैंने अपने हृदय में धारण किया है वह मेरे कंठ के मार्ग में कैसे आ सकता है अर्थात् मैं उसे कैसे

कह सकती हूं । हे हंस कौनसी कुलीन कन्या नल के साथ पाणिग्रहण करने वाले की अभिलाषा को अपने मुख से व्यक्त कर सकती है । दूसरे अर्थ में कौन विवेक वती कन्या चन्द्रमा को पकड़ने की अभिलाषा कर सकती है । श्री हर्ष मे श्लेषों का चमत्कार अधिक है । स्वयम्बर में देवताओं का परिचय कराते हुये श्लेष द्वारा उस देवता का भी परिचय होगया और साथ में असली नल का भी गुण गान हुआ है । वैसा श्लेष जो परिस्थिति के अनुकूल हो अखरता नहीं है । नैषध चरित का हिन्दी अनुवाद भी हो गया है । माघ ने भी अपने शिशुपाल बध में शिशुपाल के द्वारा श्लेषयुक्त गालियां दिलाई हैं जिससे कि गालियां भी बनी रहें, और माघ की भक्ति भावना में भी ठेस न लगे । माध के लिए उन श्लोकों की प्रसंशायुक्त-अर्थ था ।

खण्ड और मुक्तक काव्य

महाकाव्यों के अतिरिक्त संस्कृत में बहुतसा गीति काव्य भी है जिसमें खण्ड काव्य भी है जो प्रबन्ध काव्य के अन्तर्गत है और कुछ मुक्तक भी है संस्कृत के खण्ड काव्यों में मेघदूत का बहुत ऊंचा स्थान है । उसका अनेकों भाषाओं में अनुवाद हुआ है और अनेकों उसके अनुकरण निकले हैं जिनमें धोयी कवि का पवन दूत मुख्य है ।

मेघदूत—थोड़ी असावधानी के कारण कुबेर द्वारा शापित और एक साल के लिये निर्वासित यक्ष की, जो शाप वश रामगिरि पर रहता था, विरह व्यथा की मेघदूत में करुण कहानी है । एक वर्ष के पूर्व ही वर्षा के आगमन पर उसकी बिरह व्यथा असह्य हो जाती है और वह उमड़ते हुये मेघों को अपनी व्यथा सुनाता है और उससे उसकी प्रियतमा तक संदेश ले जाने की प्रार्थना करता है । कालिदास आजकल के लोगों की भांति यक्ष के इस प्रस्ताव की हास्यास्पदता से परिचित थे किन्तु उन्होंने 'कामार्ता हि प्रकृतिकृपणश्चेतनाचेतनेषु' (पू. मे. ५) अर्थात् कामार्त लोगों को जड़ और चेतन में भेद करने की सुधि ही नहीं रहती है कह कर इस आशंका का दमन कर दिया । भारतीय शिष्टाचार और संस्कृति के अनुकूल अपनी बात कहने से पूर्व उसकी कुटज पुष्पों से पूजा की और कुशल पूंछी ।

स प्रत्यग्रैः कुटजकुसुमैः कल्पितार्घाय तस्मै ।
प्रीतिः प्रीतिप्रमुखवचनं स्वागतं व्याजहार ।। पूर्वमेघ ४

यक्ष ने सदा बादल के आराम और उसकी सुविधा का ख्याल रखा है और वह भारतीय सेवा-भाव को भी नहीं भूला है । यक्ष ने कुबेर के साथ चाहे कितनी असावधानी की हो किन्तु मेघ के साथ बड़ी सावधानी का व्यव-

हार किया है। उसने अलकापुरी के मार्ग का दिग्दर्शन कराते हुये रास्ते के जितने रमणीय स्थल हैं उन सब दृश्यों का आनन्द लेने का परामर्श दिया है। मार्ग प्रदर्शन के सहारे बहुत ही सुन्दर प्रकृतिचित्रण हुआ है और उस समय के रहन–सहन और हास–विलास का भी दिग्दर्शन कराया गया है। प्रकृति-चित्रण में कालीदास की आत्मा बोलती हुई सुनाई पड़ती है और उनके हृदय का उल्लास छलका पड़ता है। उनके निरीक्षण की सूक्ष्मता दर्शनीय है। ओस की बूंदों से ढके हुये वांबियों पर लगे हुये मकड़ी के जालों की, वर्षा से उठी हुई पृथ्वी की सौंधी गंध आदि किसी चीज को वे भूले नहीं हैं। साथ ही उपदेशात्मक सूक्तियां भी बीच–बीच में पढ़ने को मिलती हैं।

'याञ्चा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा।' पूर्व मेघ ६

अर्थात् सज्जन से विफल याचना भी अच्छी है नीच से सफल याचना भी बुरी है।

(क्योंकि याचक के स्वाभिमान की रक्षा सज्जन से ही हो सकती है।)

मित्र के कार्य में ढील न डालने वाली उक्ति नीचे देखिये:–

'मन्दायन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्थकृत्या ? ।'

अर्थात् जिस पुरुष ने मित्र का कार्य सम्पन्न करने का वचन दिया है वह उसके पूरे होने तक अपने प्रयत्नों को शिथिल नहीं करता।

भारतीय संस्कृति में उसी दान की महत्ता है जिसका दाता उपकृत पर अहसान नहीं जताता है और न अपने किये हुये की डींग मारता है। इसी उद्देश्य को लेकर कालीदास का 'यक्ष' 'मेघ' से कहता है:–

नि:शब्दोऽपि प्रदिशसि जलं याचितश्चातकेभ्य: ।
प्रत्युक्तं हि प्रणयिषु सतामीप्सितार्थक्रियैव ।। उत्तरमेघ ५७

अर्थात् तुम बिना गर्जे हुये भी मांगने वाले चातक को वर्षा जल से तृप्त कर देते हो । सज्जनों का यही स्वभाव है कि बिना कुछ कहे ही याचकों की अभिष्ट सिद्धि कर देते हो ।

कालीदास के मेघदूत में विरही के हृदय की कोमलता पूर्णरूपेण उभर आई है । यक्ष अपने संदेश में कहता है–:

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागै: शिलाया–
मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम् ।
अस्त्रैस्तावन्मुहु रुप चितैदृष्टिरालुप्यते,
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्त: ।। उत्तरमेघ ४७

इसका राजा लक्ष्मण सिंह कृत पद्यानुवाद नीचे दिया जाता है ।

"शिला पै मेरु तें, कुपति ललना तोहि लिखिके ।
धस्यो जौलौं चाहूं, तद अपन तेरे पगन में ।।
चलें आंसू तौलौं दृगन पग रोकें उमगि के ।
नहीं घाता घाती हेतु, हम याहूं विधि मिलें ।।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि मेघदूत में न केवल विरही की विरह व्यथा का वर्णन है वरन सहृदय कवि ने पाठकों का मन भारतीय प्रकृति के सुरम्य स्थलों में रमाया भी है । साथ ही उसमें शेष सृष्टि के साथ ऐसा कोमलतापूर्ण रागात्मक सम्बन्ध स्थापित किया है कि मानव और जड़ प्रकृति एक दूसरे के आदान प्रदान से सुख सम्पन्न और हासोल्लासमय दिखाई देने लगते हैं ।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है कि मेघदूत के अनेकों अनुकरण हुये हैं उनमें घोयी का प्रमुख स्थान है। इनका समय बारहवीं शताब्दी ठहरता है। 'मेघदूत की भांति 'पवन दूत' की भी रचना मन्द्राक्रान्ता छन्द में हुई है। यह छन्द वियोग श्रृंगार के लिये विशेष रूप से उपयुक्त है। जिसमें वर्षा ऋतु के आगमन पर विरहिणी पत्नी ने अपने प्रवासी पति के पास संदेश भेजा था।

कालिदास के समकालीन और नवरत्नों में से एक घटकार्पर ने बाईस पद्यों का एक काव्य लिखा है। विल्हण कवि की कविता 'चौर पंचाशिका' एक ठोस गीति काव्य है। ऐसी जनश्रुति है कि एक राजकुमार एक राजकुमारी से प्रेम करने के कारण कुमारी के पिता का कोप भाजन बना था। उसको प्राण-दण्ड मिला था। सूली पर जाते हुये उसने पचास श्लोक पढ़े थे। पीछे से राजा ने प्रसन्न होकर राजकुमारी से पणिग्रहण कर दिया था। उस काव्य का मूल स्वर यही है—

'अंगीकृतं सुकृतिनः परिपालयन्ति'

मुक्तक काव्यः—संस्कृत और प्राकृत दोनों में ही श्रृंगार और नीति परक मुक्तक छन्द रचे गये हैं। इन मुक्तककारों में हाल, अमरूक, गोर्वधनाचार्य का प्रमुख स्थान है। हाल का दूसरा नाम सात वाहन था। इनका रचना-काल ईसवी शताब्दी के आरम्भ के आस पास माना जाता है। गाथा सप्तशती इनका कीर्ति-स्तम्भ है। सप्तशती में भारतीय लोक-जीवन के विविध दृश्यों के बड़े मनोरम चित्र आये हैं। श्रृंगार वर्णन में सामन्तशाही विलास वर्णन की अपेक्षा साधारण स्थिति में रहने वाले काम-काजमें व्यस्त लोगों के सौंदर्य और श्रृंगार का वर्णन आया है। हाल ने झोंपड़ी में रहने वाले गरीब लोगों को भी नहीं भुलाया है। श्रृंगार के साथ साथ नीति की भी सूक्तियां आई हैं। टेढ़े और सीधे आदमी

मुश्किल से ही निभ सकते हैं इस बात को वे एक उदाहारण से पुष्ट करते हैं कि टेढ़ा धनुष सीधे और गुण से संलग्न (गुण रस्सी को भी कहते हैं और गुण को भी) तीर को अपने से बहुत दूर फेंक देता है ।

'चापः स्वभावसरलं क्षिपति शरं किल गुणेऽपि निपन्ततम्,
ऋजुकस्य च वक्रस्य च सम्बन्धः किं चिरं भवति ।'

श्रृंगारिक वर्णनों में भी भारतीय शील के दर्शन होते हैं । पति के शुभागमन में पत्नि अपने हर्षाधिक्य को इस लिये छिपाये रखती है कि कहीं उसकी पड़ौसिन जिसका पति अपने विदेश से नहीं लौटा है–जी न दुखे ।

हिन्दी के प्रसिद्ध सतसईकार कविवर विहारी लाल जी ने भी हाल सप्तशती से बहुत से भाव ग्रहण किये । उनका प्रसिद्ध दोहाः–

नहिं पराग नहिं मधुर मधु नहीं विकास इंहि काल,
अली, कली ही से विंध्यो आगे कौन हवाल ।।

–नीचे की गाथा पर आश्रित हैः–

'ईषत्कोष् विकासं यावन्नाप्नोति मालती कलिका ।
मकरंदपानलोलुप मधुकर किं तावदेव मर्दयति ।।

(यह प्राकृत गाथा था संस्कृत रूपान्तर है) बिहारी ने मर्दयसि के स्थान में विन्ध्यो को लाकर बहुत शिष्टता करदी ।

अमरुकः—इनका समय ८ वीं शताब्दी के लगभग होगा । इनका उल्लेख आनन्दवर्धनाचार्य (८००ईसवी) ने किया है । संस्कृत के मुक्तक ग्रन्थों में अमरुक शतक के छन्दों का बहुत ऊंचा स्थान है । यह शार्दुलविक्रीड़ित छन्द में लिखा है (हमारे यहां के छन्द-शास्त्र के कर्ताओं

ने संसार के गीतिमय चित्रों से प्रेरणा ग्रहण की मालुम पड़ती है। इसमे मनुष्य और मनुष्येतर सभी प्राणी आ गये हैं। कुछ छन्दों के नाम देखिये:—

मन्दाक्रान्ता, शार्दूलविक्रीड़ित, भ्रयंगप्रयात, मालिनी, वसन्ततिलका, प्रहर्षिणी आदि। इसमे इनकी शृंगारिक रुचि का भी पता चलता है। अमरुक के छन्दों के सम्बन्ध में कहा गया है कि उसका एक-एक छन्द सौ-सौ प्रबन्ध के बराबर है।

'अमरुक कवेरेक: श्लोक: प्रबन्ध शतायते।'

यह ग्रन्थ शृंगार प्रधान है।

गोवर्धनाचार्य:—यह बारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुये हैं। इनकी आर्या-सप्तशती हाल की गाथा-सप्तशती के अनुकरण में लिखी गई है। तुलसी दास जी ने भी इनकी उपमाओं को अपनाया मालुम पड़ता है। गोवर्धनाचार्य कहते हैं कि जो बात दूसरों के मुख से गाली जैसी लगती है प्रिय द्वारा कही हुई वही बात परिहास का रूप धारण कर लेती है। दूसरे ईंधन से निकला हुआ धुंआं धुआं कहलाता है अगर से निकला हुआ धुआं धूप कहलाता है।

'इतरेन्धनजन्मा यो धूम: सोऽगुरुसमुद्भूतो धूप:।'

तुलसी दास जी ने भी कहा है:—

'अगर प्रसंग धूमहु तजै सहज करुआई।'

हमारे मुक्तककारों में महाराज भर्तृहरि का नाम अमर रहेगा। उन्होंने तीन शतक लिखे हैं 'शृंगार-शतक', 'नीति-शतक', और वैराग्य-शतक'। उनको अपनी स्त्री के ही असत्य व्यवहार से वैराग्य हो गया था। इसमें

तथ्य कथन के अतिरिक्त कवि की कल्पना और भावुकता भी है। इनके शृंगार-शतक से मालुम पड़ता है कि इन्होंने जीवन के सुखों का पूरा पूरा उपभोग किया था। इसी के साथ वे जीवन के व्यावहारिक तथ्यों से भी परिचित थे। इनके नीति-शतक में भारतीय संस्कृति का पूरा रूप उतर आया है। यहां पर दो श्लोक उद्धृत किये जाते हैं :—

'ऐश्वर्यस्य विभूषणं सुजनता शौर्यस्य वाक्संयमो,
ज्ञानस्योपशमः श्रुतस्य विनयो वित्तस्य पात्रे व्ययः।
अक्रोधस्तपसः क्षमा प्रभवितुर्धर्मस्य निर्व्याजिता,
सर्वेषामपि सर्वकारणमिदं शील परं भूषणम् ॥'

अर्थात् एश्वर्य की शोभा सज्जनता में है (क्योंकि प्रायः एश्वर्यवान लोग मदोन्मत्त होकर दुर्जन हो जाते हैं) वीरता की शोभा वचनों के संयम में है (वीर लोग डींग नहीं मारते वरन करके दिखाते हैं) ज्ञान की शोभा शान्ति में है। शास्त्राध्ययन की महत्ता नम्रता में, धन की बढ़ाई सुपात्र को दान देने में। तप की महिमा अक्रोध में है। सामर्थ की उत्तमता क्षमा में है। धर्म की महानता दम्भ हीनता में है। और सब की शाभा शील में है जो स्वयं सद्गुणों का कारण है।

'वाञ्छा सज्जनसङ्गमे परगुणे प्रीतिगुरौ नम्रता,
विद्यायां व्यसनं स्वयोप्सितिरतिर्लोकापवादाद्भयम।
भक्तिश्चक्रिणि शक्तिरात्दमने संसर्गमुक्तिः खले,
एते यत्र वसन्ति निर्मलगुणास्तेम्यो नरेभ्यो नमः॥'

अर्थात् सज्जनों से मिलने की इच्छा दूसरों के गुणों के सुनने में प्रेम, गुरुजनों के आगे नम्रता, विद्या का शौक अपनी ही स्त्री में प्रेम, लोक निन्दा से भय, विष्णु भगवान में भक्ति और मन को वश में रखने की शक्ति और दुष्टों के संग से बचना, जिन पुरुषों में ऐसे गुण होते हैं उनको मैं नमस्कार करता हूं।

भर्तृहरि ने संगीत और साहित्य को बहुत महत्व दिया है। जो लोग साहित्य और संगीत से विहीन हैं उन्हें पूंछ और सींग से विहीन साक्षात पशु बताया है।

'साहित्य संगीत कला विहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः।'

भर्तृहरि के पूर्ण वैराग्य का आदर्श देखिये:—

'गंगातीरे हिमगिरिशिलाबद्धपद्मासनस्य,
ब्रह्मध्यानाभ्यसनविधिना योगनिद्रां गतस्य।
किं तैर्भाव्यं भय सुदिवसैर्यत्र ते निर्विशंकाः,
सम्प्राप्स्यन्ते जरठहरिणाः श्रृंङ्गकंडूविनोदम्।।'

अर्थात् क्या मेरे ऐसे शुभ दिन आयेंगे जब मैं गंगाजी के तट पर हिमालय की शिला के ऊपर पद्मासन लगाये हुये, ब्रह्म चिन्तन का अभ्यास करते करते मैं समाधि मग्न हो जाऊंगा और बड़े—बूढ़े हिरन शंका और भय छोड़ कर मेरे शरीर से अपने सींगों की खुजली को दूर करने का आनन्द लेंगे।

पंडितराज जगन्नाथः—मुक्तक कारों में पंडितराज का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उनकी दो पुस्तकों ने विशेष रूप से ख्याति पाई है। शिखरिणी छन्द में लिखी हुई उनकी गंगा लहरी गंगा-भक्तों की कंठ हार है और उसका नाद-मार्धुय तो संस्कृत से अनभिज्ञों को भी मुग्ध कर लेता है। कहा जाता है कि वे एक युवती के प्रेम—पाश में फंस गये थे, और उससे विवाह कर लिया था। जब वे काशी पहुंचे तब पंडितों ने उसके लिये नाक-भौं सिकोड़ीं। तब उन्होंने कहा कि यदि गंगा जी स्वीकार करलें तब तो स्वीकार कर लोगे। पंडितों ने हां करदी। जनश्रुति ऐसी है कि वे गंगा लहरी का एक—एक श्लोक पढ़ते गये और गंगाजी एक-एक सीढ़ी चढ़ती गईं। फिर पंडितों में जाति में लेने का वचन दिया: तब उन्होंने

कहा कि गंगाजी ने ही स्वीकार कर लिया तो आप लोगों की स्वीकृति की क्या आवश्यकता। इनका दूसरा ग्रन्थ भामिनी विलास है । पदलालित्य और भावसुकुमारता और अलंकारिक चमत्कार की दृष्टि से यह ग्रन्थ अनुपम है। भर्तृहरि की लोकप्रियता इससे कुछ अधिक इस लिये है कि उनके विभिन्न शतक सभी रुचि के लोगों के लिये अनुकूल पड़ता है । पंडितराज को अपनी कविता पर वहुत गर्व था और इनकी गर्वोक्तियां प्रसिद्ध हैं—वे कहते कि जो पंडितराज की वाणी सुन कर सिर नहीं धुनता है वह या तो पशु है या पशुपति (शिव) है:—

वचस्तस्याकर्ण्य श्रवण सुभगं पंडितपतेरधुन्वन् मूर्धानं नृपशुरथवाऽयंपशुपतिः"

पंडितराज ने शहाजहां से पंडितराज की उपाधि प्राप्त की थी। इस लिये इनका समय १६५० से १६८० के लगभग बैठता है । संस्कृत सुविख्यात कवियों और आचार्यों में ये अन्तिम हैं। इनके पश्चात भी संस्कृत में काव्य ग्रन्थ रचे गये किन्तु वे इतने महत्व के नहीं है।

जयदेव:—लक्ष्मणसेन बंगाल के राजा के दरबारी कवि थे । जयदेव का समय ११०० ईसवी के लगभग माना जाता है । संगीत की दृष्टि से 'गीत—गोविन्द' एक अनुपम ग्रन्थ है । इसके छन्द राग—रागनियों में बैठे हुए हैं । उसमें श्लोक गीत और गद्य तीनों ही मिले हुये हैं । जयदेव ने अपनी कोमलकान्त पदावलि के मधु के सहारे कृष्णलीलामृत रस पान का अस्वाद कराने का बीड़ा उठाया है । उनका कथन है कि तुम्हारा मन हरि स्मरण में सरस है और विलास कलाओं में तुमको रुचि और कौतूहल है तो जयदेव की अमर भारतीय की मधुर कोमल-कान्त. पदावली को सुनो ।

यदि हरिस्मरणे सरसं मनो यदि विलासकलासुकुतूहलम् ।
मधुरकोमलकान्तपदावलीं शृणु तथा जयदेव सरस्वतीम् ।।'

राधा और कृष्ण की प्रेम-लीला के सम्बन्ध में मान और विरह तथा मिलन जन्य आनन्द की मनोदशाओं का बड़ा ही मार्मिक-चित्रण हुआ है। जयदेव ने राधा और कृष्ण को नायक और नायिका का ही रूप दिया है किन्तु कुछ लोग जीव और ब्रह्म के मिलन और विरह का आध्यात्मिक अर्थ भी लगाते हैं। यह अर्थ तो बहुतसी जगहों में बड़ी खींच-तान के साथ ही लगाया जा सकता है। बड़े-बड़े समासों में भी सरसता और श्रुतिमाधुर्य बनाये रखना जयदेव की कला की ही विशेषता है।

ललित लवंगलतापरिशीलन कोमल मलय समीरे।
मधुकर निकरकरम्बितकोकिलकूजित कुञ्जकुटीरे।।

विहरति हरिरिह सरस वसन्ते।
नृत्यति युवति जनेन समं सखि विरहिजनस्य दुरन्ते।।

अर्थात् हे सखि, मृदुल मलय समीर ललित लवंग लताओं को धीरे धीरे आन्दोलित कर रहा है। भौंरे गुञ्जार कर रहे हैं, और कोकिलों के कूंजने में कुंज की कुटियां प्रतिध्वनित हो रही हैं। विरहीजनों को दुःख देने वाली सरस वसन्त ऋतु में हरि ब्रज युवतियों के साथ नृत्य कर रहे हैं।

चण्डी दास और विद्यापति ने इसका ही अनुकरण किया है। विद्यापति अभिनव जयदेव कहलाते थे।

संस्कृत नाटक

संस्कृत नाटकों का उदय सांसारिक लोगों के क्लेश को हलका करने तथा उनको आनन्द देने के लिये हुआ था। भारतीय परम्परा के अनुसार महेन्द्र आदि देवताओं ने कमलयोनि ब्रह्मा से जनता के लिये एक खेलने की वस्तु मांगी जो दृश्य भी हो श्रव्य भी। नाटक का यही महत्व है कि वह आंख और कान दोनों को ही प्रभावित करता है और घटना को प्रत्यक्ष दिखा कर कल्पना पर अधिक बल नहीं डालता।

महेन्द्र प्रमुखैर्देवैरुक्तः खिल पितामहः।
क्रीड़नीयकमिच्छामो दृश्यं श्रव्यं च यद्भवेत्॥

इसको पञ्चम वेद कहा है जिसमें शूद्रों को भी (अर्थात् कम बुद्धि वाले और बेपढ़ों को भी) इसमें अधिकार है। वास्तव में नाटक जनता की वस्तु है। इस शास्त्र के आदि आचार्य भरत मुनि हैं। उन्होंने नाट्य शास्त्र रचा और पहले-पहल नाटक खेले भी। बाल्मीकि रामायण में अयोध्या के वर्णन में नाटक संघों तक का वर्णन आता है। महाभारत के विराट पर्व में रंग शाला का भी उल्लेख है। पाणिनि (छठी शताब्दी ईसा पूर्व) में नट सूत्रों का उल्लेख आता है। प्रतंजलि के महाभाष्य में (१५० ई. पू.) के सम्बन्ध और बालिबन्ध नाटकों का उल्लेख आता है।

हमारी नाटक पद्धति यूनानी प्रभाव से मुक्त है। हमारे यहां सब नाटक सुखान्त होते थे और यूनानी नाटकों में दुःखान्त का अधिक महत्व था। नाटकों में सुखान्त रखने में भारतीय मनोवृति का विशेष परिचय मिलता है। वे स्टेज पर मनुष्य को गाजर-मूली की भांति काटा जाना पसन्द नहीं करते थे। वे ईश्वरीय न्याय में विश्वास करते थे। इस लिये

उनके नाटक दुखात्मक चाहे हों किन्तु दुखान्त नहीं होते थे (भावों की परिशुद्धि के लिये किसी मात्रा में दुख भी आवश्यक है किन्तु भारतीय दृष्टि कोण से वह वहीं तक होना चाहिये जहां तक ईश्वरीय न्याय में अन्तर न पड़े) हमारे नाटक अंकों में विभाजित रहते थे। यूनानी नाटकों में ऐसा कोई विधान नहीं था। यूनानी प्रभाव के पक्षपाती केवल यवनिका शब्द का आधार लेते हैं। किन्तु यूनानी नाटक में यविनका जैसी कोई चीज नहीं होती थी। इससे लोगों का अनुमान था Ionia से आये हुये कपड़े से बनी हुई होने के कारण वह वस्तु यवनिका कहलाती थी। श्री जयशंकर प्रसाद ने सिद्ध किया है कि शुद्ध शब्द जवनिका है जिसका अर्थ है जो जल्दी से लपेटी जा सके। अस्तु अधिक प्रमाण इस बात के हैं कि हमारा नाटक यूनानी प्रभाव से नहीं, वरन् अपनी ही प्रेरणा से उत्पन्न हुआ था।

भासः—हमारे नाटककारों में भास का नाम सर्व प्रथम उल्लेखनीय है। मालविकाग्निमित्र में कालीदास ने भास की श्रेष्ठता स्वीकार की है। वे पारिपार्श्वक से कहलाते हैं:—

'मा तावत्। प्रथितयशसां भास सौमिल्लक कविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य वर्तमानकवेः कालिदासस्य क्रियायां कथं बहुमानः।' अर्थात् तब तक जरा ठहरो। प्रख्यात यश वाले भास सौमिल्लक कविपुत्रादि की रचनाओं का अतिक्रमण करके बर्तमान कवि कालिदास की कृतियों को आदर देगा? कालिदास के इस उल्लेख तथा कोटिल्य द्वारा भास से उद्धरण देने के कारण भास को ईसा पूर्व चौथी शती का मानते हैं। प्रसन्न राघव के कर्ता जयदेव ने भास को कविता का हास भासो हासः और कालीदास को 'कवि-कुल-गुरु' कहा है। ध्वन्यालोक में वासवदत्त का उल्लेख था किन्तु भास के ग्रन्थ प्राप्य न थे। सन् १९०९ में श्री गणपति शास्त्री द्वारा एक आमस्मिक ढंग से भास के तेरह नाटकों की प्राप्ति हुई है। इनके नाटकों में स्वप्नवासवदत्ता प्रतिमा, उरुभंग, प्रतिज्ञायौगन्धरायण आदि प्रमुख हैं।

शूद्रक:—यद्यपि कालिदास ने शूद्रक का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है तथापि विद्वानों ने कुछ शब्दों के, जैसे राष्ट्रीय (राजा के साले के अर्थ में') प्रयोग के कारण कालीदास को बाद का माना है । शूद्रक ने इसका प्रयोग राज के कर्मचारी के अर्थ में किया है यह अर्थ पहले का है । इस लिये उसका समय भास और कालिदास के बीच ईसा पूर्व पहली शताब्दी से कुछ पूर्व का माना जाता है । उनका प्रसिद्ध नाटक मृच्छकटिक अर्थात् मिट्टी की गाड़ी है । इसमें चारुदत्त ब्राह्मण के पुत्र, रोहसेन की मिट्टी की गाड़ी का उल्लेख आता है जिसमें उसकी प्रियेसी वसन्तसेना (वास्तव में वसन्त सेना ही उसे प्यार करती थी) ने सोने के आभूषणों से भर दिया था। इसका नायक चारुदत्त ब्राह्मण है और वसन्तसेना नाम की वेश्या इसकी नायका है और राजा का साला शंकर प्रति नायक है ।

यह नाटक अन्य नाटकों से भिन्न है । इसमें मध्य वर्ग के पात्रों का प्रयोग हुआ है और प्राय: सभी स्तर के लोगों का चित्रण है । इसके पात्र अपना विशेष व्यक्तित्व रखते हैं । इसमें सार्वत्रिक नामका चोर भी है जो चोरी करते समय भी नैतिक और कलागत मानों का ध्यान रखता है। वह कहता है कि मैं किसी स्त्री के शरीर से आभूषण नहीं उतारता हूं और न किसी गरीब को सताता हूं । वह सोने वाले अमीरों के यहां से ही चोरी करता है । सैंध लगाने में भी वह कला का ध्यान रखता है । सैंध को भी वह एक कला कृति बताता है—नाप—तौल और काट—छांट में रेखागणित के नियमों को पालन करने का उद्योग करता है । इसमें प्रेम और राजनीति का अपूर्व मिश्रण है । नायक और नायिका दोनों भारतीय ईमानदारी का बहुत ऊंचा आदर्श उपस्थित करते हैं।

कालिदास संस्कृत नाटककारों के मुकुटमणि हैं—वैसे तो उन्होंने तीन नाटक लिखे हैं शकुन्तला, विक्रमोर्वशी और मालविकाग्निमित्र किन्तु उनकी शकुन्तला ने देश और विदेश सभी स्थानों में अमर कीर्ति प्राप्त की

है—संस्कृत में तो यह प्रसिद्धि बहुत दिनों से चली आ रही है—'काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्या शकुन्तला ।' जर्मनी के प्रख्यात कवि गेटे ने उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है । उसका कहना है कि यदि यौवन के पुष्प और प्रौढ़ावस्था के फल और जिस-जिस वस्तु से आत्मा मुग्ध, तुष्ट और पोषित होती है एक साथ देखना चाहते हो तो और यदि पृथ्वी और आकाश एक नाम में सम्बद्ध करना चाहते हो तो वह नाम शकुन्तला है । उसके कह देने से सब कुछ आ जाता है ।

Wouldst thou the young years' blossoms
and the fruits of its decline
And all by which the soul is charmed
euraptured feasted fed?
Wouldst thou the earth and heaven, itself
in one sole name combine?
I name three, 6 Shakuntla and all
atonce is said.

कालिदास का अभिज्ञान शाकुन्तल नाटक वास्तव में पृथ्वी और स्वर्ग का मिलन कराता है । पृथ्वी पर पहले यौवन के आवेश में अस्थाई मिलन होता है जो कर्तव्य की अवहेलनावश शापित हो जाता है । प्रेम के साथ कर्तव्य की अवहेलना भारतीय संस्कृति को असह्य है । विरह और पश्चाताप के पश्चात जो मिलन होता है वह स्वर्ग में होता है । वह स्वर्गीय और चिरस्थायी होता है ।

इस नाटक की नायिका प्रकृति की गोद में पली है । (उसका सौंदर्य आभूषण हीन अकृत्रिम और प्राकृतिक है:—

'इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी,
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्।'
अभिज्ञान शाकुन्तल १।१९

अर्थात्:-

पहरे बलकल बसन यह लागति नीकी बाल।
कहा न भूषन होय रूप लिख्यो जो विधि भाल।'

शकुन्तला प्राकृतिक वस्तुओं से आत्मीय सम्बन्ध रखती है। शकुन्तला की विदा का दृश्य बड़ा मार्मिक है। पितृगृह की वस्तुओं वृक्ष और पशु पक्षियों के प्रति जो कन्या की ममता होती है उसका वास्तविक और सजीव चित्रण हुआ है। शकुन्तला गर्भवती हरिणी के बच्चे होने के समाचार के लिये पतिगृह में भी उत्सुक रहेगी।

अश्वघोषः—कालिदास के बाद अश्वघोष और हर्ष का नाम उल्लेख योग्य है। हर्ष का पूरा नाम था सम्राट हर्ष वर्धन (६०६ से ६४८ ईसवी) है अश्व-घोष तो बौद्ध नाटककार हैं ही हर्ष पर भी बौद्ध धर्म की छाप है। इनका 'नागानन्द' नाम का नाटक जीमूतवाहन के चरम आत्मोत्सर्ग का आदर्श उपस्थित करता है। हर्ष के दो और नाटक हैं—'रत्नावली', और 'प्रिय दर्शिका'।

भवभूतिः—भवभूति का समय ६५०–७५० के बीच में माना जाता है। नाटककारों में भवभूति और कालिदास समकक्ष समझे जाते हैं किन्तु करुण रस में भवभूति ही विशिष्ट माने जाते हैं।

भवभूति के तीन नाटक हैं—'महावीर चरित', 'मालती–माधव' और 'उत्तर–राम चरित'। किन्तु भवभूति की ख्याति 'उत्तरराम चरित' पर ही निर्भर है।

'उत्तरे राम चरिते भवभूतिर्विशिष्यते।'

'महावीर–चरित' में धनुषयज्ञादि से लगाकर लंका से लौटने के पश्चात श्री राजचन्द्रजी के राज्याभिषेक तक का वर्णन है। उत्तर रामचरित में सीता निर्वासिन की करुणा दिखाई है। भव भूति ने उत्तर रामचरित द्वारा यह दिखाया है कि महान पुरुषों के चरित्र 'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसामादपि', अर्थात् वज्र से भी अधिक कठोर और कुसुम से भी अधिक कोमल होते हैं। श्री रामचन्द्रजी ने कर्तव्य पालन में सती सीता को निर्वासित कर वज्र से भी अधिक कठोर हृदय का परिचय दिया किन्तु निजी सम्बन्ध में उनकी हृदय की करुणा ने पत्थर को भी पिघला दिया।

'अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्'

भवभूति ने अपने नाट्कीय कौशल से सीताजी को रामचन्द्र जी की दशा से अवगत करा दिया है।

'उत्तर रामचरित' में रामचन्द्र जी के शील और दाम्पत्य प्रेम के आदर्श का परिचय मिलता है। जब उनके पूर्व चरित्रों का चित्रपट उनको दिखाया जाता है और जहां पर परशुराम जी का चित्रण आता है वे शील-वश लक्ष्मण को आगे के दृश्य दिखाने को कहते हैं। वीर लोग अपनी प्रशंसा नहीं चाहते और न दूसरे को नीचा दिखाने की बात को याद रखना चाहते हैं।

भवभूति ने प्रेम का जो आदर्श उपस्थित किया है वह बड़ा ऊंचा है। शुद्ध प्रेम सुख और दुःख दोनों में ही एक सा रहता है। प्रेम में हृदय को विश्राम मिलता है। बुढ़ापा उसके रस को घटाता नहीं है। कुछ समय के पश्चात जब संकोच और दुराव–छुपाव का भाव दूर हो जाता है तब वह और भी परिपक्व और प्रगाढ़ हो जाता है। ऐसे मंगलमय दाम्पत्य प्रेम की प्राप्ति किसी–किसी पुण्यात्मा को ही होती है।

अद्वैतं सुखदुखयोरनुगुणं सर्वास्ववस्थासु यद्,
विश्रामो हृदयस्य यत्र, जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः।

कालेनावरणत्यात् परिणते यत्स्नेहसारे स्थितं,
भद्रं प्रेम सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्राप्यते ।।
उ. रा. च. १।४०

भवभूति ने करुण रस को ही प्रधानता दी है:—

'एको रसः करुण एव ।'

वास्तव में करुण रस में जितनी हृदय की शुद्धि होती है उतनी अन्यत्र नहीं । भवभूति द्वारा रामचन्द्र जी के पावन प्रेम के वर्णन में एकपत्नी—व्रत के आदर्श को बहुत ऊंचा उठा दिया है ।

विशाखदत्त:—इनका रचना काल सातवीं शताब्दी माना जाता है । मुद्राराक्षस नाटक पूर्णतया राजनीतिक नाटक है । इसमें श्रृंगार और स्त्री पात्रों का अभाव सा है । इसमें चाणक्य और नन्द के पुराने मंत्री राक्षस की पारस्परिक चोटों और राजनीतिक चालों का बड़ा विशद वर्णन है । राक्षस की स्वामि-भक्ति पर मुग्ध हो कर, चाणक्य का यही उद्देश्य रहा है कि किसी न किसी प्रकार राक्षस को चन्द्रगुप्त का मंत्री बनाया जाय, तभी उसका राज्य स्थिर रह सकता है । अन्त में चाणक्य सफल होता है । मुद्रा (मुहर) के कारण ही राक्षस वश में किया गया था, इस लिये इस नाटक का नाम मुद्राराक्षस पड़ा । इस नाटक में कूट नीति का ही अनुसरण हुआ है जिसमें साध्य की उत्तमता साधनों की नीचता को भी क्षम्य बना देती है । यह बहुत ऊंचा आदर्श तो नहीं है किन्तु साधारण लोग इसी का अनुसरण करते हैं । इसमें सबसे अच्छी बात तो यह है कि शत्रु लोग भी एक दूसरे की भलाई और श्रेष्ठता से प्रभावित होते हैं । भारतीय संस्कृति का यह अंग इस नाटक में पूर्ण रूप से पुष्ट हुआ है ।

संस्कृत का नाट्य साहित्य बड़ा सम्पन्न है उसका पूर्ण पर्यवेक्षण करना कठिन है । फिर भी कुछ नाटक, जैसे भट्ट नारायण का 'वेणीसंहार',

मुरारि का 'अनर्घराघव', राजशेखर के 'कर्पूर मंजरी', 'बाल–रामायण', और 'बाल–भारत' आदि नाटक, क्षेमीश्वर का 'चण्ड–कौशिक', (भारतेन्दु जी का 'सत्य हरिश्चन्द्र' इससे प्रभावित है।) दिङ नाग का 'कुन्दनमाला', कृष्ण मिश्र का 'प्रबोधचन्द्रोदय' और जय देव का 'प्रसन्नराघव' (जयदेव के प्रसन्नराघव से गोस्वामी तुलसी दास जी बहुत प्रभावित थे । और उन्होंने उनकी बहुत सी सूक्तियों को अपनाया है ।) विशेष रूप से उल्लेखनीय है ।

'वेणी–संहार' वीर रस प्रधान है । इसमें दुर्योधन का चरित्र महाभारत के दुर्योधन से बहुत ऊंचा उठाया गया है । कर्ण का आत्म-गौरव दर्शनीय है । उसको अपने कुल की अपेक्षा अपने पौरुष पर अधिक गर्व है:–

सूतो वा सूतपुत्रो वा यो वा को वा भवाम्यहम् ।
दैवायत्तं कुले जन्म मदायत्तं तु पौरुषम् ।।

अर्थात् मैं चाहे सूत हूं (सूत रथ हांकने वाले को कहते हैं कर्ण कुन्ती पुत्र होते हुये भी रथ हांकने वाले के यहां पला था ।) अथवा सूत का पुत्र हूं, अथवा कोई भी क्यों न हूं इससे क्या ? ऊंचे कुल में जन्म लेना तो देव के आधीन है (अर्थात् जिसमें मनुष्य का कोई वश नहीं) पर मेरा पौरुष मेरे आधीन है । इसमें धृतराष्ट्र की तरफ से युद्ध के विराम और शान्ति का स्वर भी सुनाई पड़ता है । वीर रस के अनुकूल ही इसकी शैली ओज-प्रधान है ।

हमारे नाटकों में रस को प्रधानता दी गई है जिस प्रकार पाश्चात्य नाटकों में चरित्र-चित्रण और उद्देश्य को मुख्यता दी गई है उसी प्रकार हमारे यहां रस को मुख्यता दी गई है । भारतीय नाटक का उदय जनता के दुःख को हलका करने के लिये तथा उसमें आनन्द का संचार करने के लिये

ही होता है । रस आनन्द को ही कहते हैं । आनन्द की चाह भारतीय मनोवृति का एक विशेष लक्षण है। यह आनन्द क्षणिक सुख का वाचक नहीं है वरन इसमें स्थायित्व और मन की शान्ति की भावना निहित है । हमारे यहां रस के आनन्द को ब्रह्मानन्द सहोदर कहा गया है। यह आनन्द ही काव्य की आत्मा है और दर्शकों का अन्तिम लक्ष्य है ।

इस आनन्द बाद का यह अर्थ नहीं है कि भारतीय नाटकों में चरित्र-और उद्देश्य का अभाव है। चरित्र–चित्रण, विभाव चित्रण के अन्तर्गत आ जाता है । जितना सुन्दर विभाव चित्रण होगा उतना ही अधिक रस का पोषण होगा। कहने का तात्पर्य इतना ही है कि हमारे यहां चरित्र चित्रण हमारे नाटककारों का मुख्य लक्ष्य नहीं है । घटनाओं की भी हमारे यहां उपेक्षा नहीं की गई है क्योंकि घटनाओं के बिना नाटक आगे नहीं बढ़ सकता । वीर रस प्रधान नाटक में तो घटना का बाहुल्य विशेष रूप से होता है ।

संस्कृत गद्य

यद्यपि संस्कृत गद्य का इतना विस्तार नहीं है जितना कि पद्य का तथापि जो कुछ गद्य है वह उच्च कोटि का है। गद्य को हमारे यहां कवियों की कसौटी बतलाया गया है। 'गद्यं कवींना निकषं वदन्ति' इस कोटि के गद्य काव्य कर्ता तीन गिने जाते हैं—दण्डी, वाण और सुबन्धु। दण्डी दश कुमार चरित में दस कुमारों के विचरण की कथा है। इसमें सभी वर्गों के लोगों का वर्णन है। दण्डी का रचना काल ७०० या ८०० ईसवी के बीच में है। सुबन्धु की ख्याति वासवदत्ता पर आश्रित है। संस्कृत गद्य का परमोत्कर्ष हर्ष के समकालीन वाण भट्ट की कादम्बरी में है। इसकी भाषा का आकार गद्य है किन्तु अलंकार सब पद्य के हैं कहीं-कहीं अलङ्कारों की झड़ी सी लग जाती है। अन्य कवियों ने वाण की जूठी उपमाओं को अपनाया है। "वाणोच्छिष्टं जगत्सर्वम्" केशवदासजी के अयोध्या के वर्णन में जो परि संख्या का अलङ्करों की माला (मूलन ही में अधोगति पाइए के आदि) उपस्थित की है उसमें वाण की ही छाया है। इस ग्रंथ में पुनर्जन्म में विश्वास की छाप पूर्णरूपेण हैं। कथानक कम है किन्तु पांडित्य अधिक है। कादम्बरी में वर्णन की शालीनता और भाषा-गौरव दर्शनीय है।

संस्कृत में कथात्मक या आख्यान साहित्य जिसमें-नीति कथा और लोक-कथा दोनों तरह की कथायें शामिल हैं प्रचुर मात्रा में हैं। नीति कथाओं में पंच तन्त्र और हितोपदेश का स्थान बहुत ऊंचा है। पंचतन्त्र का पहलवी, अरबी आदि कई भाषाओं में अनुवाद हुआ है। यूनानी कथा साहित्य इससे प्रभावित है। पंचतन्त्र की रचना का मूल उद्देश्य था कथा काहानिओं के सहारे राजकुमारों को नीति निपुण बनाना। पंचतन्त्र के बीच-बीच में बहुत से नीति के श्लोक भी आ जाते हैं। हितोपदेश भी

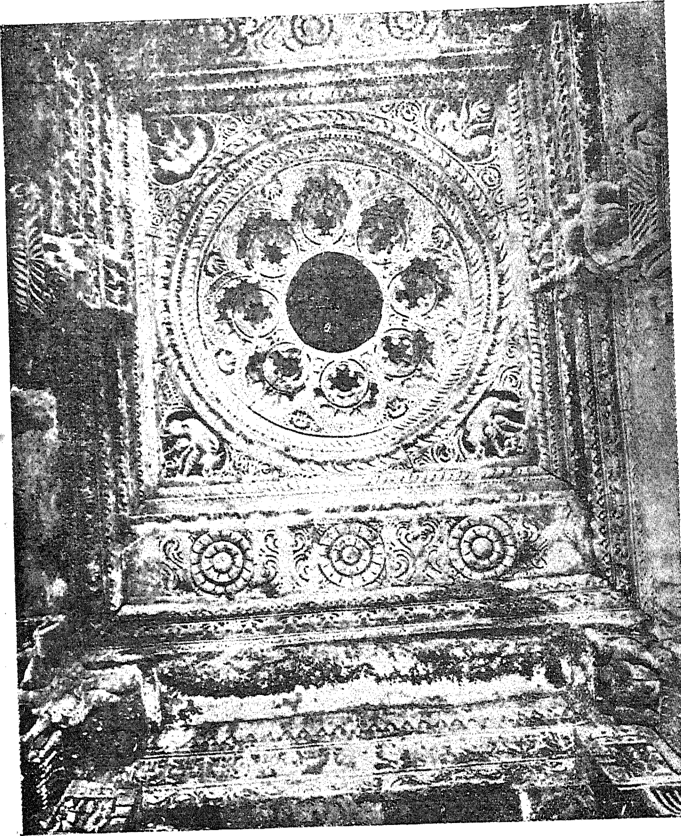
पंचतन्त्र से प्रभावित है । ये दोनों ग्रन्थ प्रारम्भिक शिक्षा के लिये बहुत उत्तम हैं । लोक कथाओं में गुणाढ्य (७८ ई०) की वृहत कथा का बहुत ऊंचा स्थान है । यह ग्रंथ मूल रूप से पैशाची भाषा में लिखा गया है । सोम देव का कथा सरित-सागर नामक ग्रंथ भी इसका संक्षिप्त संस्करण है । बौद्धों के जातक साहित्य ने तो दुनियां भर के कथा साहित्य को प्रभावित किया है । वे मूल में पाली भाषा में लिखे गये है। उनमें भगवान बुद्ध के पूर्व जन्मों की कथायें है । ये कथायें किसी उपदेश के उदाहारण स्वरूप ही कही गई थीं । अपभ्रंश में जैनियों के कथा साहित्य का बाहुल्य है । इस सब साहित्य में प्राचीन समय की रहन–सहन और रीति–रिवाज का परिचय मिलता है ।

इन पुस्तकों के अतिरिक्त संस्कृत साहित्य में जो कथात्मक ग्रंथ मिलते हैं उनके नाम इस प्रकार हैं:—

बेताल पंचविंशतका (वेताल पच्चीसी) सिंहासन-द्वात्रिंशका अथवा द्वात्रिंशपुत्तलिका (सिंहासन बत्तीसी) शुभ सप्तति (तोता मैना की कहानी) इससे ज्ञात होता है कि संस्कृत साहित्य में लोकवार्ता को कितना महत्व दिया गया था ।

——:०:——

भारतीय कला



कंडरिया महादेव खजुराहे के मंडप की अलंकृत छत पृष्ठ १२१

भारतीय कला

'अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति ही तो कला'--साकेत।

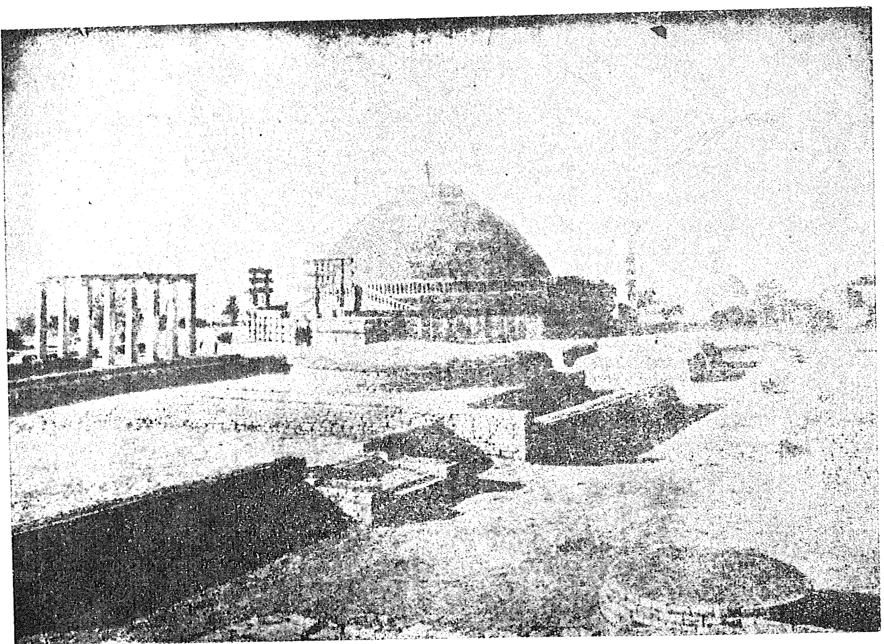
भारतीय कला की विशेषताएं—मानव आत्मा आनन्द से उद्वेलित हो जो अभिव्यक्ति करती है उसी को कला कहते हैं। हमारी आत्मा भीतर से बाहर आकर मूर्त रूप धारण करने को उत्सुक रहती है और अपने व्यक्तीकरण में वह तथाकथित अनात्म को भी आत्मरूप देना चाहती है। कला अनात्मा पर आत्मा की छाप है। कभी यह छाप ईंट चूने पर डाली जाती है, तो कभी पत्थर पर, कभी वह तूलिका के रंगों से कागज पर। कला अनेकों हैं। जिन-जिन वस्तुओं में आत्मा का ओज उत्साह और उल्लास दर्शित होता है वे सब कला कृति का रूप धारण कर लेती हैं। हमारे यहाँ ६४ कलाएँ मानी गई हैं। इनका उल्लेख कामसूत्रों में हुआ है। दण्डी ने इनको 'कामार्थसंश्रयाः' कहा है- 'नृत्यगीतप्रभृतयः कामर्थसंश्रयाः' भारतीय संस्कृति में जीवन के व्यापक आदर्शों में काम (जो कुछ सुन्दर, रमणीय, दर्शनीय है वह काम का विषय बन जाता है) भी आ जाता है।

कला हमारे भावों और विचारों की द्योतिका होने के कारण संस्कृति की परिचायक होती है। कला में एक प्रेषणीयता रहती है वह स्वयं ही मनुष्य का एकाकीपन दूर कर देती है और मनुष्यों का पारस्परिक सम्पर्क भी बढ़ाती है।

कला का सम्बन्ध हमारे दैनिक जीवन से है। हमारे धर्मप्राण भारतीयों का जीवन विशेष कर कलामय रहा है। वैदिक यज्ञों की वेदी की निर्माण-कला शुल्वसूत्रों में वर्णित है। संगीत का मूलस्रोत सामवेद है। वैदिक काल की वेदियाँ आदि सुरक्षित नहीं हैं। कला सम्बन्धी अन्य ग्रन्थ मानसार और विष्णु धर्मोत्तर पुराण हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय कला का आरम्भ धर्म में होता है। यूनान में भी कला का उदय धर्म में ही हुआ है। भारतीय धर्म मनुष्य के सारे जीवन को घेरे हुए रहा है। उसमें लौकिक अभ्युदय और निश्रेयस दोनों ही शामिल हैं। धार्मिकता भारतीय कला की पहली विशेषता है। धर्म में एक आत्मसमर्पण की भावना रहती है। इसी कारण हमारे यहाँ के कलाकारों में नाम की लालसा कम रही। लोकैषणा से वे ऊँचे उठना चाहते थे। तीसरी बात यह है कि भारतीय संस्कृति के अनुकूल ही बाह्य की अपेक्षा हमारे कलाकारों का ध्यान अन्तर की ओर रहा है। अरस्तू ने कला को अनुकृति माना है। इसी से प्रभावित हो वहाँ के कलाकारों ने शारीरिक अवयवों के अनुपात और संगठन को अधिक महत्व दिया है। भारत में भावों को अधिक महत्व दिया है। भारतीय कलाकर कलाकृति द्वारा भावाभिव्यक्ति करना अपना ध्येय समझते हैं। वे भाव रूप आत्मा को स्थूल आकार देना चाहते थे। इसमें शरीर का भी सौंदर्य आजाता था। भारतीय कला की धार्मिकता के ही कारण उसमें प्रतीकात्मकता अधिक आई। मन्दिरों के शिखरों पर अम्लक (आँवला) और घट अधिक बने। अल्मक ज्ञान का प्रतीक है। घट पूर्णता का प्रतीक वा अमृत घट का द्योतक है। शिखिर भी पर्वत शिखिर और भावों की उच्चता के द्योतक होते थे।

मोहनजो दड़ो और हड़प्पा—भारतीय कला के सबसे प्राचीन चिन्ह जो मिलते हैं वे सिन्ध के लरकाने के जिले के मोहनजो दड़ो (अर्थात मुर्दों का देश) तथा मोन्टगोमरी जिले में रावी नदी से ६ मील दूर हड़प्पा की खुदाई के हैं। इन खुदाई का श्रेय सर्वश्री राखाल दास बनर्जी, सर जॉन मार्शल तथा दयाराम सहानी को है। इनको विद्वान लोग पूर्व वैदिक सभ्यता के चिन्ह बताते हैं। किन्तु यह धारणा तभी ठीक हो सकती है जब हम वेदों को पूर्व ई० से २७०० वर्ष से बाद का ही मानें। यदि वेद ईसा से ३०००



सांची का स्तूप और तोरण पृष्ठ १०९

या ४००० वर्ष भी पूर्व के हो तो इनको पूर्व वैदिक कहना भी गलत सिद्ध होगा। इस प्रकार ये जो द्रविडियन कहे जाते हैं इसके आधार में कुछ पूर्व ग्राह काम कर रहे हैं। एक तो यह कि शिव पूजा आर्यों ने द्रविणों से सीखी और यह कि द्रविण लोग मूर्ति पूजक थे और आर्य मूर्ति पूजक नहीं थ। शिव की उपासना किसी न किसी रूपमें आर्यों में वर्तमान थी। यह भी विवादास्पद है कि आर्य लोग मूर्ति पूजक नहीं थे। जो लोग महेनजो दड़ो को पूर्व आर्य सभ्यता या द्रविड सभ्यता के बतलाते हैं उन के पास ये उक्तियां और हैं। एक तो यह कि यहां वृषभ की मूर्तिया मिलती हैं और आर्य लोग गौ के उपासक थे। दूसरी बात यह है कि आर्य लोग घोड़े रखते थे। ये दोनो ही उक्तियां एसी है जिनकी दृढ़ता में लोग संदेह करने लगे हैं। वृषभ का उल्लेख वेदों में है। दूसरी बात यह हैं कि पीछे की खुदाइयों में घोडे के भी अंकन मिले हैं। जो आधार शिलाएँ दृढ़ न हों उन पर कोई महल नहीं बनाया जा सकता हैं। वहाँ की मिट्टी की मुहरों आदि के अभिलेख अभी पढ़े नहीं गये हैं। हमको इस सम्बन्ध में अपने हृदय कपाट खुले रखने चाहिए। ऐसे मामलों में भावुकता और पूर्व ग्राहों को छोड़कर वैज्ञानिक दृष्टि से काम लेना श्रेयस्कर होगा। भारतीय दृष्टिकोण यह है कि द्रविड़ आदि सब बिगड़े हुए आर्य हैं। हमारे यहाँ यह भी माना गया है कि दानव लोग भवन निर्माण कला में निपुण थे। युधिष्ठिर का राजभवन मयदानव का ही बनवाया हुआ था। कुछ लोग यह भी कहते हैं आर्य सभ्यता वनों की है, नगरों की नहीं। ब्रह्मचारी और सन्यासी बन में रहते थे। गृहस्थ नगरों में ही रहते थे।

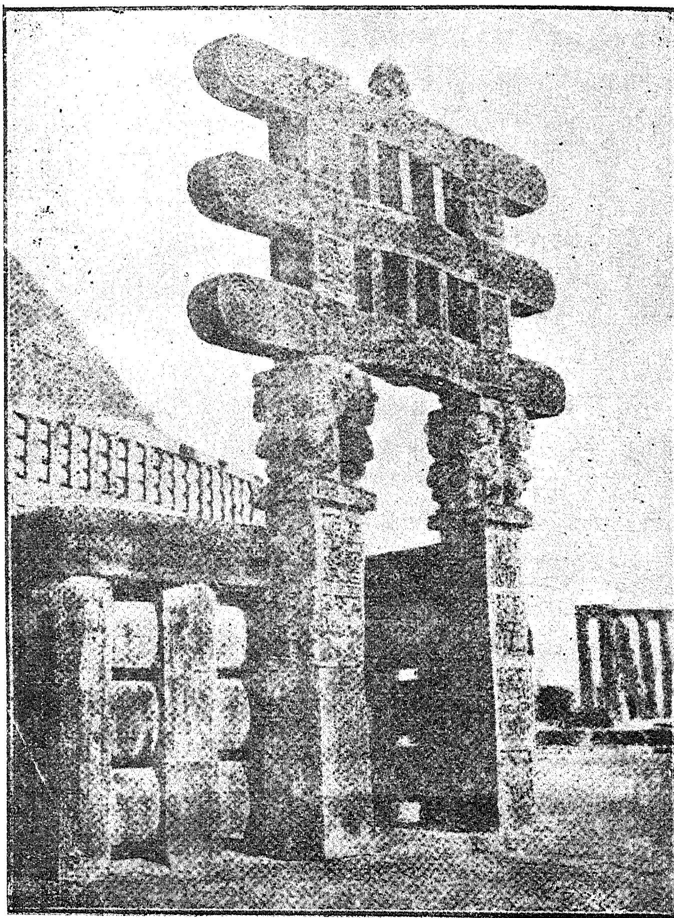
मुहरोंपर जो मूर्तियाँ अंकित हैं उनसे विदित है कि जो देवता विराजमान है उनका आसन योग शास्त्र में बताये हुए आसन के अनुकूल हैं और उनमें ऋषभ देव की सी त्याग की मुद्रा है। वृषभ को बहुत महत्त्व दिया गया है वह शैव और जैन दोनो में मान्य है।

अस्तु जो कुछ भी हो मोहनजो दड़ो की सभ्यता एक विकसित सभ्यता थी। वहाँ के नगर आज कल के नगरों की बहुत अंशों में बराबरी करते हैं।

मोहनजोदड़ो के भग्नावशेषों से प्रतीत होता है कि यह नगर काफी बड़ा था। रहने के मकान छोटे भी होते थे और बड़े भी। ये ईंटों के बने होते थे। इनकी जमीन खरंजा अथवा गच्च (वज्रलेय) की बनी हुई होती थी। नालियां और स्नानागार भी थे। रहने के मकानों के अतिरिक्त कुछ बड़े भवन भी थे। इनमें बड़े खम्भों के हॉल थे। एक भवन मिला है जो उत्तर से दक्षिण १६८ फुट है और पश्चिम से पूर्व १३६ फुट है। इसमें दोनों ओर बहुत से चतुष्कोण कमरे और दालान हैं। वैयक्तिक स्नानागारों के अतिरिक्त कुछ बड़े स्नानागार भी थे। नालियों की इतनी सुन्दर व्यवस्था उस समय के किसी अन्य देश में नहीं मिलती, नगर में सफाई का पूर्ण प्रबन्ध था। कूड़ा-करकट जमा करने के लिये अलग निर्दिष्ट स्थान बने हुए थे। उस समय के गेहूँ भी मिले थे। सोने के कुछ जेवर भी प्राप्त हुए हैं। उनकी सफाई देखकर आश्चर्य चकित रह जाना पड़ता है। लोहे से वे लोग शायद परिचित नहीं थे। यहाँ शिव पूजा के द्योतक शिव लिंग और नादिये मिलते हैं।

मौर्य-काल (ई० पू० ३२२-१८४)

अशोक:— मोहनजो दड़ो के पश्चात भारतीय कला के जो अवशिष्ट चिन्ह मिलते हैं वे मौर्ययुग के हैं। सम्राट अशोक ने बौद्ध धर्म के स्वीकार करने के पश्चात धर्म के प्रचार और शासन को दृढ़ और सुव्यवस्थित बनाने के अर्थ बहुत से स्मारक बनवाए थे। वे स्मारक चार प्रकार के थे— स्तूप, स्तम्भ, गुफाएँ और राजप्रासाद। स्तूप महात्मा बुद्ध की भस्मादि पर या उनसे सम्बन्धित स्थानों पर बनाये हुए उलटे कटोरे के आकार के ठोस गुम्मद हुआ करते थे। मौर्य स्तूपों की यह विशेषता थी कि इनमें रोक के लिए वे चारों ओर एक बाढ़ लगा देते थे जिसको संस्कृत में वेदिका या वेष्टनी कहते हैं। स्तूपों के ऊपर सम्मान और महत्ता का सूचक छत्र



सांची का तोरण पृष्ठ १०६

भी लगा देते थे। दरवाजे की चारों दिशाओं में चार द्वार या तोरण रहते थे। वर्त्तमान काल में स्तूपों का सर्वोत्तम प्रतिनिधि सांची का स्तूप है। इसके तोरण तो शुंग युग के हैं और स्तूप मौर्य युग के ही है। ये तोरण दो खम्भों के ऊपर तीन अण्डे लहर दार पत्थरों के बनते थ। इनका संस्कृत नाम सूची है। उस समय के कारीगरों की चतुराई इन्हीं वेष्ठनियों (वेदिकाओं) और तोरण की सजावट से देखी जा सकती है। स्तूप और तोरण के चित्र अलग-अलग देखिये।

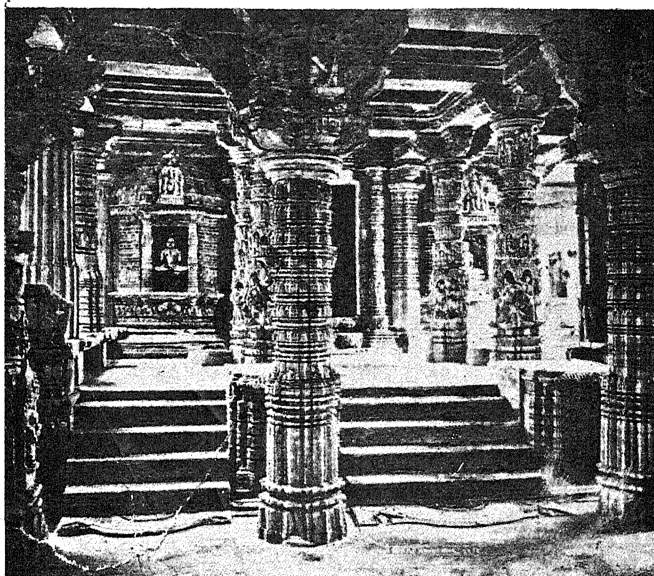
स्तम्भः— अशोक काल के सबसे बढ़िया स्मारक उनके बनवाये हुए स्तम्भ हैं। यह सब चुनार के लाल पत्थर के बने होते हैं। इनके दो अंग होते हैं। एक प्रधान लाट और उसका शीर्ष (Capital) यह स्तम्भ एकाष्मीय अर्थात् एक पत्थर के होते थे और इनपर ऐसी सुन्दर ओप या पोलिश होती थी कि आज तक भी उनको देखकर हमें दाँतों तले उँगली दबानी पड़ती है। इन शीर्षों पर हमें भारतीय मूर्ति कला के उत्कृष्ट उदाहरण मिलते हैं। इन पर शेर, हाथी, घोड़े या बैल की मूर्ति बनी होती थी। ये स्तम्भ ३२ से ४० फुट ऊँचे होते थे और उसी के अनुपात में इनकी गोलाई होती थी। चारों दिशाओं के मुँह किए उकड़ूं बैठे शेर वाला वर्तमान राज्य-चिन्ह भी इन्ही शीर्षों में से एक है। यह स्तम्भ भगवान बुद्ध के धर्मचक्र प्रवर्तन के स्थान सारनाथ में सन् १९०५ में सारनाथ में पाया गया था। चारों शेरों के नीचे चार पहिए हैं जो धर्मचक्र प्रवर्त्तन के प्रतीक हैं। इन स्तम्भों तथा अन्य प्रस्तर खण्डों पर अांकित अशोक के शिला-लेख भी देश में बिखरे पड़े हैं। जिनसे उस समय की राज्य व्यवस्था पर प्रकाश पड़ता है।

गुफाएँः— अशोक तथा उसके वंशजों ने भिक्षुओं के निवास के लिए गुहा गृह बनवाये थे। ऐसी एक गुफा गया के सोलह मील उत्तर में बराबर स्थान पर मिलती हैं। इसको अशोक ने आजीवक भिक्षुओं के

लिये बनवाई थी। यह बहुत बड़े तेलिया पत्थर से बनी हुई हैं। इसमें से दो कमरे थे, बाहरी चोकोर ३२'६"×१६'६" और भीतरी गोल १६'११"×१६' था। अशोक के पौत्र दशरथ ने भी इस तरह की गुफाएं बनवाई थी। पिछली गुफाओं में यह विशेषता आ गई कि इनमें मूर्तियों और चित्रों को अधिक प्राधान्य मिलने लगा। पाटलीपुत्र के राजभवन की प्रशंसा पाँचवीं शती में फाहियान ने की है। उनकी सुन्दरता के ही कारण उसने कहा है कि वे मनुष्य के बनाये नहीं हुए हैं। अशोक ने अनेकों बौद्ध विहार भी बनवाये थे।

शुङ्गकाल (१२२ ई० पू० से ३० ई०पू०)

शुङ्ग वंश के राजाओं ने हिन्दू धर्म का प्रचार किया था किन्तु अविरोध भाव से और धर्मों को भी पोषण दिया था। इन्होंने यज्ञों को पुनर्जीवन प्रदान किया था। शुङ्ग काल की कला मौर्य कला की एक प्रकार से पूरक है। इस काल में साँची, भारहुत और बुद्ध गया की कला विकसित हुई। इस नई कला में भगवान बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित मूर्तियों को प्राधनता मिली। अशोक कालीन अलंकरणों में जहाँ पशु पक्षियों और चक्र आदि धार्मिक चिन्हों की प्रधानता रहती थी वहाँ शुङ्ग काल में मूर्तियाँ द्वारा भगवान के जीवन वृत्त का चित्रण हुआ। भारहुत मध्यभारत के नागोद राज्य में है। वहाँ का स्तूप तो नष्ट हो गया है किन्तु उसके चारों ओर की बाढ़ (वेष्ठनियों) के कुछ अंश और तोरण वर्तमान है। वे सब कलकत्ते के अजायब घर में सुरक्षित है। भारहुत के वेदिका स्तम्भों पर बनी हुई यक्षिणियों की गणना भारतीय शिल्प के सर्वोत्तम उदाहरणों में होती है। उनमें धार्मिक चित्रों के साधारण जीवन से सम्बन्धित आनन्द-प्रमोदमय चित्र भी हैं। जातक की कथाओं के कतिपय अंकन भी आमोद-प्रमोद के साधन बने है। साँची की वैष्ठनियों और तोरणों का हम पहले उल्लेख कर चुके हैं। बुद्ध गया के मन्दिर की बाढ़ के अलंकरण में कमलों तथा पशु पक्षियों के चित्र भारहुत जैसे ही हैं।



आबू पहाड़ का तेज पाल जैन मंदिर पृष्ठ ११९

साँची और भारहुत के अतिरिक्त मौर्य-शुङ्ग कालीन शिल्प के उदाहरण उडीसा की उदयगिरि और खण्डगिरि पहाड़ियों की कुछ गुफाओं में मिलते हैं। जिनमें हाथी गुफा, रानी गुफा, गिरीश गुफा और अलका पुरी नाम की गुफाएं प्रसिद्ध हैं। इनका समय १५० ई० पूर्व से ५० ईसा तक है। रानी गुफा में जिसका जैन धर्म से सम्बन्ध है तीर्थंकर पार्श्वनाथ का एक जुलूस है। उदयगिरि की जय-विजय गुफा में ६ फुट की एक स्त्री मूर्ति है जिसके खड़े होने का ढंग बड़ा आकर्षक है।

शुङ्ग वंश में पुष्यमित्र और अग्निमित्र का नाम उल्लेखनीय है। ये हिन्दूराजा थे, पुष्यमित्र के समय में काबुल और पंजाब के यवन राजा मिनेन्द्र ने, जिनके और नागसेन के वार्तालाप के आधार पर प्रसिद्ध बौद्ध ग्रन्थ मिलिन्द प्रश्न (मिलिन्द पन्हो) बना है, साकेत और चित्तौड़ के आस-पास के प्रान्त पर आक्रमण किया था किन्तु पुष्य मित्र नें उसे लौटाल दिया था। कहने का अभिप्राय यह है कि चन्द्रगुप्त के समय में आये सिकन्दर और पीछे से आए हुए सेल्यूकस आदि का एवं पीछे मिलि[illegible]ादि का यूनानी प्रभाव यहाँ वर्तमान था। यद्यपि यह बहुत थोड़ा [illegible]थापि नितान्त नगण्य न था। इसी काल में शकों के भी आक्रमण हुए।

कुषाण काल (लगभग ई १ से २०० तक)

कुशन लोग मध्य एशिया की यूची जाति से सम्बन्धित हैं। कुषाण काल का प्रधान उन्नायक कनिष्क था। यह सन् ७८ ईसवी में राजगद्दी पर बैठा था। पुष्प पुर या पेशावर इसकी राजधानी थी यह बौद्ध था और प्रसिद्ध बौद्ध कवि अश्वघोष इसके ही काल में हुआ है। किन्तु कनिष्क ने हिन्दू धर्म को भी पोषण दिया। कुषाणों के अधिकार में मथुरा कला का केन्द्र बन गया और उत्तर पश्चिम गांधार कला चेती। इस प्रकार उसके समय में कला के चार केन्द्र हो गये। सारनाथ, मथुरा, अमरावती और गांधार।

मथुरा की कुषाण कालीन कला विशेष महत्त्व रखती है। साँची भारहुत आदि स्थानों में बुद्ध कला तो है किन्तु वहाँ बुद्ध भगवान की मूर्ति का कोई नमूना नहीं मिला। मथुरा भागवत धर्म और भक्ति का केन्द्र था। इस कारण वहाँ के कलाकार उपासना योग्य श्रेष्ठ मूर्तियों की कल्पना कर सके। इस एक बात से बौद्ध कला के विकास में बहुत बड़ी क्रांति हुई और हमेंशा के लिए रुख पलट गया। विशालकाय तोरण और वेदिकाओं का स्थान बुद्ध और बोधिसत्व की अनेकानेक मूर्तियों ने लिया। सारनाथ और कुशीनगर में भी मथुरा से ही लेजाकर मूर्तियाँ पधराई गई थीं। बुद्ध प्रतिमाओं के अतिरिक्त और भी अनेक नाग-नागी यक्ष यक्षिणियों की मूर्तियाँ मथुरा में पाई गई हैं। कुषाण काल की मथुरा की कला की यही विशेषता है कि वहां मानव को प्रकृति की सुन्दर पृष्ठ भूमि में दिखाया गया है। इस सम्बन्ध में हम भी कृष्णदत्त वाजपेयी जी की मथुरा परिचय नाम की छोटी पुस्तक से एक उद्धरण देते हैं:—

"जिस प्रकार भारतीय साहित्य में संसार को पूर्णरूप से समझने तथा जीवन के वास्तविक आनन्द प्राप्त करने के लिये प्रकृति को एक अनिवार्य अंग माना गया है उसी प्रकार भारतीय कलाविदों ने अपने क्षेत्र में इस तत्त्व को प्रकट किया है। मथुरा की कला में वेदिका-स्तम्भों आदि पर हमें इसका जीता-जागता चित्रण मिलता है—कहीं वनों में स्त्री-पुरुषों द्वारा पुष्प संचय किया जा रहा है, कहीं निर्झरों और जलाशयों में स्नान तथा क्रीड़ा के दृश्य हैं। कहीं सुन्दरियों के द्वारा मजंरी पुष्प या फल दिखाकर शुकादि पक्षियों के लुभाने का चित्रण है।"

भगवान बुद्ध की मूर्तियाँ प्रायः कई मुद्राओं में देखी जाती हैं। उनमें (१) अभयमुद्रा जिसमें दाहिना हाथ ऊपर रहता है। (२) ध्यान मुद्रा जिसमें गोद में खुली हथेली के ऊपर खुली हथेली रहती है (३) भूमि स्पर्श मुद्रा जिसमें



पद्मासन लगाये हुए भूमि स्पर्श मुद्रा में
भगवान बुद्ध की मूर्ति पृष्ठ १२१

दाँयें हाथ से भगवान बुद्ध पृथ्वी को छूते दिखाई पड़ते हैं (पृष्ठ १२१ से सम्बन्धित भगवान बुद्ध की मूर्ति देखिये) (४) व्याख्यान मुद्रा जिसमें दोनों हाथ छाती के पास आ जाते हैं। (५) वरद मुद्रा जिसमें दाहिने हथेली नीचे की ओर आगे को रहती है मुख्य है। भारतवर्ष के उत्तर पश्चिम सीमा पर पेशावर से लेकर अफ़गानिस्तान तक का प्रदेश गंधार एवं कपिशा के नाम से प्रसिद्ध था। गन्धार की राजधानी पेशावर या पुष्पपुर थी। बाहर से आने वाले शक राजाओं के समय में गन्धार का महत्त्व स्वभावतया बढ़ गया था। इसी प्रदेश में सिकन्दर के बाद में यूनानियों का भी राज्य रहा था जिसके कारण बहुत से यूनानी यहाँ बस गये थे जो भारतीय धर्म और कला से प्रभावित होते हुए भी (बहुत से यूनानियों ने हिन्दूधर्म को तथा नामों को अपनाया था। वैस नगर के लेख से ज्ञात होता है कि यवन राजदूत हेलियोडोरस ने भागवत धर्म स्वीकार किया था) अपने देश के धर्म और कला से प्रेम बनाये हुए थे। यहीं पर एक कला का जन्म हुआ जिसको गान्धार कला कहते हैं उसमें यूनानी आकृति की शुद्धता और भारतीय भाव व्यंजना का मिश्रण था किन्तु फिर भी उनमें बहिर्मुखता का आधिक्य है। इसलिए ये मथुरा कला से भिन्न हैं। इसमें योग की अन्तर्मुखी ध्यान की भावना का अभाव है।

कुषाण युग में ही सुदूर कृष्णा और गोदावरी नदियों के बीच आन्ध्र देश में भी बौद्ध कला की बहुत उन्नति हुई इनमें अमरावती स्तम्भ के संगमर्मर थे शिला खण्ड प्राप्त हुए हैं। यहाँ बुद्ध भगवान के ६ फुट की ऊँची खड़ी मूर्तियाँ अपनी शांति और गम्भीरता में अद्वितीय हैं। अमरावती का स्तूप और उसकी वेष्ठनियां संगमरमर की हैं।

गुप्त काल ३२०ई०—५०० ई० तक

इस काल में राजनीतिक दृष्टि से पर्याप्त उन्नति हुई। उसका प्रभाव कला पर भी पड़ा। एकछत्रीय चक्रवर्ती शासन की ओर क़दम

1M6

बढ़ाया गया। अश्वमेध यज्ञ हुए और ब्राह्मण धर्म की भी प्रतिष्ठा हुई। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की। कुछ लोग कालिदास को इन्हीं के दरबार का कवि मानते हैं। पहले विक्रमादित्य जिनके नाम से हमारा संवत् चलता है उज्जयिनी के राजा थे। चीनी यात्री फाहियान इन्हीं के शासन काल में आया था।

गुप्तकाल भारतीय कला का स्वर्णयुग है। इसमें कला अपने चरम उत्कर्ष को पहुँची है। इस काल में कुषाण काल की शारीरिकता को छोड़ कर कला आध्यात्मिकता की ओर अग्रसर हुई और अलंकरणों को कम कर भावाभिव्यक्ति के सौन्दर्य की ओर उठी। गुप्त काल में मथुरा और सारनाथ जैसे दोनों ही केन्द्रों ने उन्नति की। सारनाथ में भवन भी बनें और मूर्तियाँ भी गढ़ी गईं। बुद्ध की मूर्तियों की निर्माण कला की परम्परा और भी आगे बढ़ी। इनमें एक ओर योगियों जैसी ध्यान में अन्तर्लीन ध्यानाकृति पाई जाती है और दूसरी ओर बाह्य सौन्दर्य की भी पराकाष्ठा है।

मथुरा संग्रहालय में ७ फीट २॥ इंच लम्बी बुद्ध भगवान की खड़ी मूर्ति इस समय की कला का एक उत्कृष्ट उदाहरण है।

इस काल की मूर्तियों के पीछे प्रभामण्डल भी दिखाई देता है। (सामने के पृष्ठ पर चित्र देखिए) वैष्णव और शैव मूर्तियाँ भी एक से एक सुन्दर रची गईं। इस काल में मिट्टी की मूर्तियाँ की निर्माण कला में और भी उन्नति हुई। गुफा मंदिर तो उस समय की विशेषताओं में से है। वैसे भी मंदिर बने। झाँसी जिले में देवगढ़ का दशावतार मन्दिर इसी काल का है। इसमें शिव-पार्वती की बड़ी सुन्दर मूर्ति है। गुफा मन्दिरों की बनावट बड़ी विचित्र और आश्चर्य-जनक है। पत्थर को काट-काट कर ही गुफाओं में हाल, कमरे, खम्भे, मूर्तियां, बेलबूटे और अलंकरण तैयार किये गये थे। इनके बनाने में कितनी



प्रभामण्डल युक्त भगवान बुद्ध की मूर्ति
मथुरा म्युजियम से पृष्ठ ११५

सावधानी और कितना परिश्रम किया गया होगा, इसका अनुमान लगाना भी कठिन है ।

इन्हीं गुफाओं में चित्रकारी का भी विकास हुआ था। इनकी दीवालों को एक सा करके रंगबिरङ्गी चित्रकारी की जाती थी । गुफाओं की चित्रकारी के उदाहरण ईसा पूर्व दूसरी शती के भी मिलते हैं। सरगुजा राज्य में रामगढ़ पहाड़ी पर जोगिमारा गुफा में दीवार पर अंकित कई सुन्दर चित्र हैं। गुप्तकालीन गुफाचित्रों में अजन्ता के चित्र बड़े महत्त्व के हैं । (अजन्ता हैदराबाद राज्य के खानदेश जिले में हैं ।) इन चित्रों का विषय प्रायः बुद्ध भगवान की जीवन घटनाएँ हैं । इनकी स्वाभाविकता एवं भावव्यंजकता दर्शनीय है । अजन्ता की चित्रकारी गुप्त काल के बाद भी चलती रही ।

अजन्ता चित्रकला की कुछ विशेषताएँ हम रायकृष्णदास के एक लेख से उद्धृत कर रहे हैं ।

"इन चित्रों की तैयारी की खुलाई (रूपरेखा) बहुत जोरदार, जानदार और लोचदार है । उसमें भाव के साथ-साथ वास्तविकता है एवं उसमें चीन की तथा उससे उत्पन्न जापानी और ईरानी चित्रकारी की सपाटे वाली कोणदार रेखाएँ नहीं हैं जिनका उद्देश्य भाव की अभिव्यक्ति के बदले अलंकरण ही होता है । रंगों की योजना प्रसंगानुकूल बड़ी आढ्य और चित्ताकर्षक है—कहीं फीके व वेदम रंग नहीं लगे हैं । आवश्यकतानुसार उनमें विविधता भी है । यथोचित हलका साया लगाकर चित्रों के अवयवों में गोलाई उभार और गहराई (डौल) दिखाई गई है । हाँथ-पाँव, आंख और अंग-भंगी की भाषा से अर्थात भाव बताने के भाषा से , दूसरे शब्दों में हाथ की मुद्राओं से, आंख की चितवनों से और अंगों के लचाव तथा ठवन से अधिकांश भाव व्यक्त हो जाते हैं ।

यद्यपि इन चित्रों का विषय सर्वथा धार्मिक है और इनमें वह विश्व करुणा अथ से इति तक पिरोई हुई है जो भगवान बुद्ध की भावना की मूर्त-रूप है, फिर भी जीवन और समाज के सभी अंगों और पहलुओं से इनकी इतनी एकतानता है कि वे सभी अंक और पहलू इनमें पूरी सफलता से अंकित हुए हैं। इतना ही नहीं सारे चराचर जगत से यहाँ के कलाकार की पूर्ण सहानुभूति है और उन सब को उन्होंने पूरी सफलता से अंकित किया है।

मनुष्यों के रूपों के भेद और उनको अभिजात्य दिखाने में चित्रकारों ने कमाल किया है, अर्थात भिक्षुक, ब्राह्मण, वीर सैनिक, देवोपम सुन्दर राज-परिवार, विश्वसनीय कंचुक और प्रतिहार, निरीह सेवक, क्रूर व्याध, निर्दय वधिक, प्रशान्त तपस्वी, साधु वेषधारी धूर्त, कुलाङ्गना, वारवनिता, परिचारिका आदि के भिन्न-भिन्न मुख, सामुद्रिक और अंग-कद की कल्पना उन्होंने बड़ी मार्मिकता से की है। क्रोध, प्रेम, लज्जा, हर्ष, उत्साह, घृणा, भय, चिन्ता आदि भाव भी इनमें इसी प्रकार बड़ी खूबी से दरशाए गए हैं।"

ग्वालियर राज्य में अनझेरा जिलें में बाघ की गुफाओं की भी चित्र-कारी अजन्ता से मिलती जुलती है।

हर्षवर्धन काल

थानेश्वर में प्रभाकर वर्धन छठी शती के अन्त में राज्य करता था उसका पुत्र राजवर्धन ६०५ ई० में थानेश्वर के सिंहासन पर बैठा। राज्य-वर्धन अधिक काल तक राज्य न कर सका। उसका भाई हर्षवर्धन ६०६ में गद्दी पर बैठा। इतिहास में हर्षवर्धन और उसकी बहन राज्यश्री का बहुत नाम है। हर्ष के समय में उसकी राजधानी कन्नोज होगई थी, हर्ष स्वयं भी एक अच्छा कवि था (उसने तीन नाटक लिखे थे) और कवियों का आश्रयदाता भी था। वाण भट्ट ने अपनी कादम्बरी इसी

के समय में लिखी थी और हर्ष चरित भी लिखा था जिससे कि उस समय का बहुत कुछ हाल मिलता है। चीनी यात्री ह्वेनसांग इसी के शासन में आया था। इसी के समय में चीन से हमारे सांस्कृतिक सम्बन्ध बढ़े। यहाँ से बहुत से संस्कृत ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ चीनी भाषा में अनुवादित होने गईं। तिब्बत को लिपि सिखाने यहाँ के आचार्य गए। नालान्दा विद्यालय उस समय बड़ी उन्नति पर था। उसने अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर ली थी। यह नौ मंजिला था। इत्सिंग के समय में इसमें तीन सौ कमरे और छय मण्डप थे। इस कारण वह उस समय की वास्तुकला की उन्नति का भी परिचायक था। इसमें देश-विदेश के दश हजार विद्यार्थी पढ़ते थे और इनको पढ़ाने के लिए १५०० अध्यापक रहते थे। यहाँ पर चार विषयों की—व्याकरण, हेतु विद्या या तर्क शास्त्र, चिकित्सा शास्त्र, और एक किसी शिल्प की—अनिवार्य शिक्षा होती थी। इसके कुलपति आचार्य शील भद्र ने बड़ी ख्याति पाई थी। ह्वेनसांग ने इनके चरणों में बैठकर शिक्षा प्राप्त की थी।

जैसा की मानसार से जो इसी काल में बना था विदित होता है, वास्तुकला ने पर्याप्त उन्नति की थी। मानसार के हिसाब से शहर आठ प्रकार के होते हैं। राजधानी, नगर, पुर, नगरी खेट, खर्वाट, कुब्जुक और पट्टन। शहर के चारों ओर एक परकोटे और खाई का विधान था, राजाओं की श्रेणियों के अनुकूल उनके नौ प्रकार के महल बताये गए हैं।

इस समय की कला में निजाम राज्य में स्थित इलूरा और बम्बई बन्दर के पास की एलीफेंटा गुफाएँ जो धारापुरी नाम के टापू में स्थित हैं बहुत प्रसिद्ध है। इलूरा की गुफा में हिन्दू मूर्तियाँ हैं। यहाँ पर कैलाश नाम का मन्दिर सबसे प्रसिद्ध है। इस मन्दिर का निर्माण राष्ट्रकूट के राजा कृष्ण ने (लगभग ७६०-७७५ ई०) कराया था। दोनो ही स्थान शैव पूजा के सम्बन्धित

हैं और इनमें शिव-पार्वती के मनोरम दृश्य दिखाये गये हैं। कैलाश मन्दिर में शिव ताण्डव के बड़े गतिमय मनोरम दृश्य है।

हिन्दू कला की अन्तिम दीप्ति

सम्राट हर्षवर्धन की मृत्यु के पश्चात् एकछत्र राज्य के छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हो जाने के कारण हिन्दू राज्यश्री क्षीण होने लगी। आठवीं से बारहवीं शती प्राचीन इतिहास का अन्तिम काल कहा जाता है। इस काल में कन्नौज, मगध, मालवा, जेजाकभुक्ति (बुन्देलखण्ड), अजमेर आदि राज्य महत्व में आए और धीरे-धीरे मुसलमान आक्रमणकारियों के शिकार बने। इनके शासक राजपूत थे। कुछ अंग्रेज विद्वान तो राजपूतों को शकादि विदेशी आक्रमण कारियों की सन्तति बतलाते हैं। किन्तु भारतीय मत उनको अग्निकुल से उत्पन्न मानता है प्रचलित इसमें प्रतिहार,पंवार, सोलंकी और चौहान राजवंश थे। (ओझा जी चौहान आदि की अग्नि से उत्पत्ति को चन्द वरदाई की कल्पना मानते हैं)। शायद उनकी शुद्धता और पवित्रता द्योतक करने के लिये यह कल्पना की गई हो। वास्तव में वे वैदिक क्षत्रियों की ही सन्तान हैं। वैदिक धर्म के क्षत्रिय सब नष्ट नहीं हो गए थे। विदेशियों से अथवा भ्रष्ट क्षत्रियों से इनका सम्मिश्रण चाहे हुआ हो यह बात दूसरी है।

राजाओं की सम्मिलित शक्ति भी सुबुक्तगीन को न हरा सकी। उसके बाद उसके लड़के महमूद गजनी ने सत्रह बार हमले किये। सौराष्ट्र के सोमनाथ के मन्दिर को इसी ने विध्वंस किया। इसके बाद बख्तियार खिलजी और शाहबुद्दीन गोरी के हमले हुए। शाहबुद्दीन गोरी को कई बार पृथ्वीराज से हारना पड़ा किन्तु अन्त में पृथ्वीराज न जीत सका।

इस प्रकार मुसलमान शासन की नींव पड़ी। इस काल में साहित्य

भी हैं । ये सड़के चार हजार फुट लम्बी हैं। यहाँ परकोटे और सोने के स्तम्भ दक्षिण के मन्दिरों की विशेषता है। (वृन्दावन के रङ्ग जी के मंदिर में भी ये विशेषताएं वर्त्तमान हैं) यहाँ पर रामचरित्र का भी अंङ्कन बहुत सुन्दर हुआ है ।

पल्लवों के राज्य मे माल्लिपुर और कांची के मन्दिर प्रसिद्ध हैं। यहाँ पर सातवीं शती के बने हुए मन्दिर हैं, कांची के दो भाग हैं। एक शैव कांची और दुसरी विष्णु कांची । विष्णु कांची का मंदिर पांच परकोटों के भीतर बना हुआ है, इस प्रकार हम देखते हैं कि दक्षिण की भी वास्तुकला पर्याप्त रूपेण उन्नत और समृद्ध थी ।

चिदम्बरम् में नटराजजी का मंदिर बहुत प्रसिद्ध है। यह मंदिर दो घेरो के भीतर ६६ बीघे भूमि पर स्थित है। इसके नौ खंडे गोपुर दर्शनीय है। इन पर मूर्तियों का अंकन भव्य है (चित्र देखिए)।

मुसलमान कलाः– भारत में मुसलमानों ने भी वास्तुकला में उत्कृष्ट उदाहरण छोड़े हैं । सबसे पहला स्मारक मुहम्मद गोरी के दास सुल्तान कुतुबउद्दीन की बनवाई हुई कुतुबमीनार है । मीनार तेरहवीं शताब्दी के प्रथम दशक के आस-पास बनी थी । यह पहले प्रायः २२५ फुट ऊँची थी । इस पर कुरान शरीफ की आयतें अंकित हैं और इसपर हिन्दू अलंकरण है ।

इसके अतिरिक्त दिल्ली की जामा मस्जिद और अजमेर की 'ढाई दिन का झोपडा' नाम की मस्जिद बड़ी विशाल और दर्शनीय है । आँगन के विस्तार में तो मंदिर और मस्जिद प्रायः समान होते हैं, फिर भी मुसलमानों की सामूहिक प्रार्थनाओं के कारण बड़ी मस्जिदों के जैसे जामा मस्जिद का आँगन विशाल होता है । मस्जिदों में गुम्मदों के अतिरिक्त छोटी बड़ी मीनारें भी होती हैं । हिन्दुओं के मन्दिरों में शिखर होते हैं और उनपर कलश होते हैं । हिन्दुओं के उपास्य गृह उनको विशेष पवित्रता देने के लिए छोटे होते हैं। उनके चारों ओर प्रदक्षिणा (परिक्रमा) के लिए मार्ग

1176

रहता है । मुसलमानों की मस्जिदों में मूर्तियाँ तो होती ही नहीं और अलंकरणों की भी अपेक्षाकृत अभाव रहता है। महराबी दरवाजे मुस्लिम स्थापत्य की विशेषता है । हिन्दू लोग खम्भों पर प्राय: अलंकृत टोटों पर पत्थर की धन्नी रखकर दरवाजे का काम चलाते हैं। मुस्लिम वास्तुकला का असली विकास अकबर के समय में हुआ । अकबर जैसा धर्म और रीतिरिवाज के सम्बन्ध में समन्वयवादी था वैसा ही वह स्थापत्य के सम्बन्ध में समन्वयवादी था । फतहपुर सीकरी में हिन्दूस्थापत्य का अधिक प्रभाव है । उसमें मानव मूर्तियाँ तो नहीं किन्तु हाथी आदि की मूर्तियों की अलंकरण अवश्य है । जहाँगीर भी अकबर के ही पदचिन्हों पर चला । उसका बनवाया हुआ आगरे का किला तथा लाहोर और काश्मीर के शालीमार बगीचे दर्शनीय हैं । लाहौर में अनारकली का मकबरा भी बड़ा सुन्दर बना है ।

मुगलों के स्थापत्य प्रेम का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण आगरे का ताजमहल है। इसको सम्राट शाहजहाँ ने अपनी प्रियतमा मुमताजमहल के समाधि मंदिर के रूप में बनवाया था । यह शुद्ध संगमरमर का बना हुआ है । इस में विशालता के साथ पिच्चीकारी की कारीगरी की सूक्ष्मता तथा रंगों का सुन्दर मिश्रण है । मुगलों के लिये कहा गया है कि वे दानवों की भांति विशाल भवन बनवाते थे और जोहरियों की भांति उसकी बारीकी के साथ साज-सम्हाल करते थे । They built like giants and finished like Jewellers. यह उक्ति ताजमहल के लिये अक्षरशः लागू होती है । उसका वातावरण बड़ा शान्त और मनोरम है और उसके निर्माण में विशालता होते हुए भी स्त्री सौन्दर्य की कोमलता और मृदुता है। इमारतों के सम्बन्ध में मुस्लिम शासन स्मरणीय रहेगा ।

औरङ्गजेब की कट्टर नीति के प्रतिक्रिया स्वरूप मरहठों और बुंदेलों में जाग्रति आई । दक्षिण में शिवाजी ने और बुन्देलखण्ड में छत्रसाल ने मुगल शक्ति का डट कर मुकाबिला किया। सिक्खों ने पंजाब में अपनी

शक्ति का परिचय दिया । भूषण ने वीररस की कविता कर हिन्दुत्व को प्रोत्साहन दिया । मरहठे लोग हिन्दू धर्म के रक्षक थे किन्तु वे भी हिन्दू राजाओं से लड़े । इस प्रकार आपसी झगड़ों और प्रतिद्वंद्विताओं में शक्ति का ह्रास हुआ। अंग्रेजोंने बची-खुची राजपूत और मुस्लिम शक्तियों पर तथा मरहठों और सिक्खों पर कुछ शक्ति बल और रणकौशल से और कुछ भेद नीति से विजय प्राप्त कर अथवा संधियाँ कर सार्वभौम सत्ता प्राप्त करली । मरहठों ने काशी आदि तीर्थ स्थानों पर सुदृढ़ और विशाल घाट बनवाये । अमृतसर का गुरुद्वारा सिक्खों की मूल्यवान देन है । इसमें मुसलमानी प्रभाव अवश्य है।

अंग्रेजों ने अधिकतर उपयोगी भवन बनवाये किन्तु उनमें कुछ का यद्यपि स्थापत्य अधिकांश में विदेशी है तथापि वे दर्शनीय हैं । इनमें कलकत्ता का विक्टोरिया मेमोरियल तथा नई दिल्ली में पार्लियामेण्ट तथा सेक्रेटेरियेट भवन आदि उल्लेखनीय हैं । अब पुरानी कला का भी पुनरुत्थान हो रहा है। हिन्दू विश्व विद्यालय, पटना म्यूजियम आदि इसके उदाहरण हैं। आजकल मूर्तिकला की भी बहुत उन्नति हुई है । प्राचीन ढंग की प्रस्तर मूर्तियाँ भी बन रही हैं और प्लास्टर ऑफ पेरिस आदि की भी मूर्तियाँ, बस्ट आदि बड़ी सुन्दर बन रही हैं जिनमें पाश्चात्य प्रभाव से आकृति का यथार्थवाद भी आगया है ।

चित्रकला

भारत में अन्य कलाओं की भांति चित्रकला भी बड़ी सम्पन्न और उन्नत अवस्था रही है । चित्रकला का उल्लेख हमारे पुराणों, काव्यों और नाटकों में प्राप्त है । दुष्यन्त ने शकुन्तला का ऐसा सुन्दर चित्र बनाया था जिसमें सजीवता का आभास होने लगता था। उधर उत्तर रामचरित में भी एक चित्रपट का उल्लेख प्राप्त है। नाट्य शालाओं, गृहस्थों के भवनों और राजप्रासादों में भी चित्र एक आवश्यक अलंकरण और मांगल्यविधायक माने गये हैं । काव्य के भांति चित्रों में भी रस की प्रधानता मानी गई है ।

विष्णुधमोत्तर पुराण में यह भी बतलाया गया कि गृहस्थों में घर में किस रस के चित्र होना चाहिये और राजाओं के घर में किस रस के ।

चित्रकार तूलिका द्वारा रेखाओं और रंगों के सहारे नाना प्रकार की मानव तथा पशु पक्षियों और वेल-बूटों द्वारा नाना प्रकार के भावों की अभिव्यक्ति करता है । भारतीय कला अनुकृति की अपेक्षा अभिव्यक्त प्रधान रही है ।

प्राचीन काल में जैसे अजन्ता के चित्रों में हम चित्रकला को वास्तु कला के अंग रूप ही पाते हैं । उस समय भी चित्रकला जीवन की तथा उससे उत्पन्न होने वाले भावों की अनेकरूपता प्रकट करने में बहुत उन्नत हो चुकी थी । हमारे यहाँ चित्र कला की आधार सामग्री भित्तियाँ, कपड़े, तालपत्र, काष्टपट्ट, कागज, हाथी दाँत आदि सभी प्रकार की रहे हैं । भित्त चित्रों के पश्चात् हमको पुस्तकों के हाशियों या ऊपरी पट्टों के अलंकरण या भावों या दृश्यों के मूर्त व्यक्तिकरण के रूप में मिलते हैं । तालपत्रों पर अंकित जैन कल्पसूत्रों और कालकाचार्य कथानक के गुजराती कलम के चित्र इसके अच्छे उदाहरण हैं । ये तेरहवीं शती के अन्त के हैं और पाटन के एक पुस्तक भण्डार में सुरक्षित है । पुस्तकों की सुलेखन और चित्रांकन जैन साधुओं में मनको सयंत्रित रखने का एक साधन माना जाता है । सोलहवी शती के अन्त में लिखी वसन्त विलास नाम की पुस्तक में जो श्री एन. सी. मेहता के संग्रह में है कई शृंगारिक चित्र हैं । जैन ग्रन्थों के चित्रित हस्त लिखित संस्करण भारत और ब्रिटेन के संग्रहालयों में सुरक्षित हैं ।

राजपूत शैली:— राजपूत शैली के चित्रों का आरम्भ सोलहवीं शती के अन्त में हुआ । रागमालाओं के चित्र इस कला की विशेषता हैं । बारहमासे तथा कृष्ण लीला और नायिका भेद के भी चित्र इस काल में बने । रागमाला के चित्र रागों के अनुकूल वातावरण को उपस्थित करके

उनसे उत्पन्न होने वाले भावों के काल्पनिक चित्र उपस्थित करते हैं । इस शैली में वास्तविकता की अपेक्षा काल्पनिकता को अधिक महत्व दिया गया है । इस काल में राजाओं आदि के कुछ वास्तविक चित्र भी बने । बुन्देलखण्ड शैली और पहाड़ी वा कांगडा शैली भी इसी की उत्तरकालीन शाखाएँ हैं । बुन्देलखण्ड शैली का मूल लक्ष्य केशव की कविता के भावों का मूर्त निरूपण रहा है । विशेषकर दतिया में देव, मतिराम और बिहारी की कविताओं के ऐसे ही चित्र बने । साथ ही नायिका भेद और रागमाला के भी चित्र बनाने की प्रवृत्ति चलती रही । ये चित्र अधिकांश में काल्पनिक भाव चित्र ही रहे । रस और भाव की दृष्टि से कांगडा शैली ने परमोत्कृष्टता प्राप्त की है । इन चित्रों में नारी सौन्दर्य के नाना रूपों को प्रधानता दी गई है । इनमें नायिका भेद, अष्ट याम, भगवान कृष्ण की बाललीलाएँ और प्रेम लीलाएँ हैं । कांगडा के राजा संसार चंद्र (१७७४–१८२३) पहाड़ी चित्रकला के पोषक और अभिभावक रहे हैं । राजपूत कला के प्रायः समकालीन ही मुगलकला के समकालीन ही राजपूत कला का उदय हुआ था किन्तु राजपूत कला मुगल कला की अपेक्षा अधिक काल तक जीवित रही क्यों कि उसमें लोकतत्व की मात्रा कुछ अधिक थी।

मुगल शैली:—यद्यपि मुसलमानों में किसी प्रकार की अनुकृति बनाना वर्जित रहा है तथापि वे लोग चित्रकला के सम्बन्ध में कुछ उदार रहे हैं। हुमायूं फारस से सैयद अली और अबदुस्समद नाम के दो चित्रकार लाया था । इनके द्वारा उसने 'अमीर हमजा' नाम के काव्य को चित्रित कराया था । मुगल कला फारसी और भारतीय कला का मिश्रण है । अकबर चित्रकला को ईश्वरीय महत्ता के समझने का एक साधन समझता था । जहांगीर ने अकबर की परम्परा कायम रक्खी । फिर क्रमशः उसका ह्रास होता गया । औरङ्गजेब जैसे कट्टर मुसलमान को भी अपने लड़के की बीमारी में उसके चित्र बनवाने पड़े थे ।

मुगलशैली के चित्र प्रायः तीन श्रेणियों में बाँटे जा सकते हैं ।

(१) उपाख्यानों के चित्र (ये प्रायः काल्पनिक होते थे)

(२) ऐतिहासिक चित्र जिनमें स्वंयम अकबर का भी जीवन चित्रित है ।

(३) शवीह अर्थात् व्यक्ति चित्र ।

अकबर ने ईरानी आख्यानों जैसे हम्जा नामा के अतिरिक्त भारतीय आख्यानों, रामायण, महाभारत आदि के भी चित्र बनवाये थे उनमें अन्धक वध, रामजन्म आदि के चित्र बड़े सजीव और संश्लिष्ट हैं । राम-जन्म के चित्र में जन्म सम्बन्धी अन्तःपुर के सभी उत्सव और औषधियों और मसाले पीसे जाने से लगाकर नगाड़े बजाने और बढई के पालने लाने तक के दृश्य और क्रिया-कलाप आ गये हैं । ऐतिहासिक चित्रों में दुर्गादि के भी चित्र हैं । भारतीय चित्रों की पोशाक आदि मुसलमानी सम्पर्क से प्रभावित हैं । यह स्वाभाविक है । शवीह बनाने में मुगल कलाकार सिद्धहस्त थे । ये शवीह प्रायः एकचश्मी अर्थात् एक पार्श्वी (Profile) की होती थी जिसमें एक आँख ही दिखाई दे ।

अंग्रेजों के आधिपत्य हो जाने पर भारतीय कला पर योरोपीय प्रभाव पड़े। उन्नीसवीं शती के आरम्भ में पाश्चात्य यथार्थवाद का आधिक्य हो गया । अनुकृति को मुख्यता दिये जाने लगी । उन्नीसवीं शती के अन्त में रवि वर्मा ने बड़ी ख्याति प्राप्त की । शकुन्तला पत्र-लेखन आदि उनके प्रसिद्ध चित्र थे ।

बङ्गाल की कला में जिसके पोषक और अभिभावक श्रीयुत् अवनीन्द्र नाथ ठाकुर और हेवेल महोदय थे इस यथार्थवाद की प्रतिक्रिया हुई । उस कला ने अजन्ता चित्रों से प्रेरणा ली और कुछ-कुछ राजपूत शैली

तथा चीन जापान की चित्र कला से प्रभाव ग्रहण किये। इसमें भावाभिव्यक्ति को प्राधान्य मिला। नन्दलाल बोस, वकील आदि इस शैली के अच्छे कलाकार हैं। गुजरात में भी देशी शैली को ही प्रधानता मिली, कन्नू देसाई आदि वहां के प्रधान कलाकार हैं। चित्रकला अपनी भारतीय परम्पराओं को ग्रहण करती जा रही हैं और उनका उज्वल भविष्य है।

संगीत

संगीत को हमारे यहां विशेष महत्व दिया गया है। नाद को ब्रह्म कहा गया है। सामवेद का उपवेद गान्धर्व वेद माना गया है। इस प्रकार भारत में संगीत की परम्परा सामवेद से चली आ रही है। भगवान कृष्ण ने वेदों में सामवेद को ही महत्ता दी है 'वेदानां सामवेदोस्मि' (श्रीमद्भगवद्गीता १०।२२)। वास्तु कला, मूर्ति-तक्षण-कला और चित्रकला का सम्बन्ध देश (Space) से है किन्तु संगीत का सम्बन्ध काल से है क्योंकि वह ताल और लय के आश्रित है। उसमें अधिकांश में काल का ही भाव रहता है। वैसे उसका सम्बन्ध आकाश से है जिसका गुण शब्द है। सस्वर शब्दों को ही नाद या संगीत कहते हैं। ऊँकार से ही वेदों के तीन स्वरों की सृष्टि हुई। उनसे फिर पांच और सात स्वरों का विकास हुआ। संगीत में एक विशेष तरलता और बहाव रहता है जो अन्य कलाओं में नहीं पाया जाता है। वह काल-यापन का सबसे उत्तम साधन है। कविता को वह अपूर्व बल देता है। उसकी भाषा व्यापक है। इसका प्रभाव पशु पक्षियों पर भी पड़ता है, संगीत का हमारे भावों के साथ सीधा सम्बन्ध होने के कारण उसका अधिक सांस्कृतिक महत्व है। वह मनोरंजन के साथ-साथ सामाजिक संगठन और सामाजिक सजीवता बढाने एवं मानसिक साम्य स्थापन करने का एक महत्वपूर्ण साधन है। संगीत के तीन अंग हैं—गीत, वाद्य और नृत्य। 'गीतंवाद्यं तथा नृत्यं त्रयं संगीतमुच्यते'। भारत में

इन तीनों चीजों का धार्मिक महत्व रहता है। भरतमुनि ने नाट्यकला के सम्बन्ध में इन तीनों का ही उल्लेख किया है। हमारे यहां वाद्यों में वीणा का विशेष महत्व रहा है। विद्या की अधिष्टातृ देवी माता शारदा वीणा पाणिनि कहलाती है और भक्ति सूत्रों के कर्त्ता नारद मुनि वीणा पर ही हरि गुण गान करते हैं। प्रवीण शब्द का शाब्दिक अर्थ भी है वीणा में प्रकर्षा वीणा वाद्य संगीत तथा कला का प्रतीत है बीणा में जो स्वरों की मीड़े (बीच के स्वर) निकल सकती हैं वे हरमोनिम में नहीं निकल सकती हैं। श्री कृष्ण जी की मुरली की भी वाद्य यन्त्रों में मुख्यता रही है। सूर साहित्य में मुरली के बड़े श्रेष्ठ वर्णन आये हैं। शिवजी का ताण्डव (उग्र) नृत्य प्रसिद्ध है और पार्वती जी का लास्य (कोमल) नृत्य। संस्कृत के आचर्यों ने नृत्त, नृत्य और नाट्य तीन श्रेणियां मानी हैं। नृत्त में ताल लय के अनुकूल पद संचालन रहता है। नृत्य में कथाकली नृत्यों की भांति भाव प्रदर्शन भी रहता है। नाट्य में भाव प्रदर्शन के साथ अभिनय, गायन और संवाद भी रहते हैं। शिव जी नटराज कहलाते हैं और श्रीकृष्ण जी नटनागर के नाम से पुकारे जाते हैं।

संगीत का राजघरानों, विदग्ध पुरुषों के एकान्त कक्षों और देव मन्दिरों में आदरपूर्ण स्थान रहा है। काव्य ग्रन्थों में इसको प्रोत्साहन दिया गया है। राजघरानों में संगीत शिक्षा भी बड़े उत्साह से चलती रही है। अर्जुन ने वृहन्नला के रूप में विराट कुमारी उत्तरा को नृत्य की शिक्षा दी थी। कालिदास के मालविकाग्निमित्र में हमको आचार्य गणदास का नृत्य के शिक्षक के रूप से उल्लेख मिलता है। उनके नाम के पहले आचार्य शब्द का प्रयोग इस बात का द्योतक है कि उन दिनों इस कला में प्रकर्षता प्राप्त करना निन्द्य नहीं समझा जाता था।

संगीत कला राज्याश्रित भी थी और लोकाश्रित भी। इसी कारण इसकी विशेष उन्नति हो सकी। बारहवीं शताब्दी में राजपूत राजाओं ने उसमें दक्षता

प्राप्त की। इनमें नामदेव, भोज, परमारादि चंदेल, और जगदैकयल्ल ने विशेष ख्याति प्राप्त की। वे संगीत कला के बड़े अभिभावक थे और कलावन्तों के सम्मेलन भी कराया करते थे।

ईसा की तेरहवीं शताब्दी के अन्त में लिखा हुआ शार्ङ्ग देव का संगीत रत्नाकर संगीत शास्त्र का प्रमाण-कोटि का ग्रन्थ है। वे संगीत के विषय में निशंक कहलाते थे और उनके ग्रन्थ का मान भरत मुनि के नाट्य शास्त्र का सा ही है। उन्होंने उत्तरी और दक्षणी पद्धतियों का सुखद मिश्रण किया था। उत्तरी और दक्षिणी पद्धतियों में समानताएँ भी हैं और विभेद भी हैं। दक्षिण में रागों की संख्या कुछ अधिक है। दक्षिण में शुद्ध शास्त्रीय संगीत की ओर आग्रह रहा है। श्रुतियों (सात स्वरोंका २२ श्रुतियों में विभाजन किया जाता है जैसे 'सा' के बांट में चार आती है, 'रे' के बांट में तीन 'गा' की दो, मा की फिर चार) में, जैसे एक स्वर के बांट में चार श्रुतियां पड़ीं जहां दक्षिण वाले उनको 'सा' के पहले लगाएगें वहां उत्तर वाले पीछे। जहां दक्षिण वालों में 'सा' की समाप्ति होती है वहां हमारे सा का आरम्भ होता है। दक्षिण के संगीत में एक नवजीवन भरने का श्रेय सन्त त्यागराज को है। दक्षिण की अधिक शास्त्रीयता के कारण वहां नवीनता के लिये कम गुंजाइश रही। दक्षिण बाहर के प्रभावों से अछूता सा रहा। वहां का कर्नाटकी संगीत अपने मौलिक रूप को बनाये रहा।

शार्ङ्गदेव के पश्चात देश में विदेशी प्रभावों का समावेश होने लगा और इस प्रकार हिन्दुस्तानी संगीत का जन्म हुआ। इसके पोषक और अभिभावक थे खड़ी बोली के आदिम कवि अमीर खुसरो। इन्होंने भारतीय रागों का फारसी रागों के साथ सम्मिश्रण करके कुछ नये राग निकाले। जिनमें इमन और शहाना आदि अब भी प्रचलित हैं। ख्याल पद्धति के गायन के जन्म देने का श्रेय इन्हीं को है। राजपूतों में राणा कुम्भा ने

जयदेव के गीत गोविन्द पर एक टीका लिखी थी जिसमें उसमें वर्णित रागों तथा संगीत कला पर भी प्रकाश डाला गया था।

सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भिक भाग में वेजू बावरे का बड़ा प्रभाव रहा। इन्होंने गुजरात में जन्म ग्रहण किया था और ग्वालियर के राजा मान तोमर के आश्रय में संगीत शिक्षा प्राप्त की थी। राजा मान-तोमर के यहां ध्रुपद शैली का जो संस्कृत छंद पर आश्रित थी विकास और पोषण हुआ। ध्रुपद आज भी शास्त्रीय संगीत का प्रतीक है।

मध्यकाल में वैष्णवों की पद शैली जिसके आदि आचार्य जयदेव और विद्यापति थे बहुत-लोक प्रिय हुई। इसके गायन कला का रूप देने में हरिदासजी, तथा हित हरिवंशजी को है सूर तथा अन्य अष्टछाप के कवियों ने तथा मीरा ने अपने पदों को गाया है। इनमें गायक के अतिरिक्त भक्त का भी उत्साह था। तुलसी के लिए यह नहीं कहा जा सकता है कि वे स्वयं गायक थे या नहीं किन्तु उनके पद गेय अवश्य हैं। हिन्दू और मुसलमान सन्तों ने भी अपनी वाणी के गायन द्वारा प्रचार किया। वे प्राय: एक तारा पर ही गाते थे। अधिकांश वैष्णव भक्त अकबर के समय में हुए। अकबर स्वयं अच्छे संगीतज्ञ थे। उनके दरबार से रुबाब आदि विदेशी बाजे देशी आवश्यकताओं के अनुकूल बदल लिए गये थे।

तानसेन भी इसी समय में हुए। तानसेन ने हिन्दुस्तानी संगीत का अधिक प्रचार किया। कव्वाली ख्याल का एक मुस्लिम रूप है। इसके आविष्कारक मुसलमान सूफी फकीर थे। जहांगीर ने भी अकबर की परम्परा कायम रखी। औरंगजेब की कट्टर धार्मिकता के कारण संगीत कला का दरबार से तो बहिष्कार हो ही गया और अन्यत्र भी इसके प्रचार पर रोक लगी। मुहम्मद शाह रंगीले के समय में उसको पुनर्जीवन प्राप्त हुआ। दिल्ली में पंजाब के मियां शारी ने ठप्पा नाम की शैली का प्रचार किया।

दिल्ली के वैभव-विनाश के पश्चात गायकों ने राजा और नवाबों के यहां आश्रय लिया। सन् १८४५ के लगभग कृष्णानन्दन व्यास ने राग-कल्पद्रुम बनाया जिसमें उन्होंने कलाविदों के गाने संग्रहीत किये। वाजिद अलीशाह के दरबार से ठुमरी का चलन प्रचारित हुआ।

वर्तमान समय में भारतीय संगीत के पुनरुद्धार के साथ अंग्रेजी प्रभाव पड़े। हारमोनियम का चलन बढ़ा और थियेट्रिकल गानों का प्रचार हुआ लेकिन विष्णु दिगम्बर और भरतखण्डे जैसे सदाशय व्यक्तियों ने भारतीय परम्पराओं को कुछ सरलता के साथ पुनर्जीवित करने का उद्योग किया। विष्णु दिगम्बर का बम्बई, अलाहवाद आदि में अधिक प्रभाव रहा। भरतखण्डे का ग्वालियर और लखनऊ में। राय राजेश्वर के मन्त्रित्वबली में लखनऊ में मेरिस कालेज की स्थापना हुई। इन लोगों ने विद्यार्थियों के लाभार्थ-अपनी-अपनी स्वरलिपियां (इन दोनों महानुभाओं की स्वर लिपियों की अंकन शैली में भेद है) इस प्रकार शास्त्रीय संगीत को फिर प्रोत्साहन मिला। उधर बंगाल में ठाकुर (टैगोर) परिवार के प्रभाव के कारण संगीत का उद्धार हुआ। महाराजा सौरेन्द्र मोहन ठाकुर ने संगीत पर बहुत से ग्रन्थ लिखे उनमें भारतीय वाद्ययन्त्रों पर एक बड़ी पुस्तक लिखी गई। बंगाल में कवीन्द्र रवीन्द्र के प्रभाव से साहित्य और संगीत का अधिक मिश्रण हुआ जिसका प्रभाव हिन्दी भाषा भाषी प्रान्तों पर भी पड़ा। राष्ट्रीयता के नाते टेगोर और डी. एल रोय के गायनों का ग्रामों में भी प्रचार हुआ। राष्ट्रीय उत्थान तथा स्वामी विवेकानन्द, रामकृष्ण परम हंस, की शिक्षा के प्रचार से एवं संगीत सभाओं के प्रभाव से उस्तादों की अपेक्षा विनोदाभ्यासी लोगों (Amateures) का चलन बढ़ता जाता है; इधर सिनेमा ने भी थिए-ट्रिकल गानों के साथ कुछ सस्ता लोकप्रिय संगीत का चलन बढ़ाया है और रेडियो, उस्तादों के शास्त्रीय गानों के साथ चलते हुए गानों को प्रोत्साहन भी दे रहा है। यह अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि संगीत के प्रचार से सामाजिकता सुरुचि तथा काव्य और कला प्रेम को प्रोत्साहन मिला है।

हिन्दी भाषा और साहित्य

हिन्दी भाषा से पूर्व की भाषाएं——सब से पहले वैदिक संस्कृत थी। उस में रूपों का कुछ वैविध्य था और वह बोलचाल की भाषा के कुछ अधिक निकट थी। उसके पश्चात करीब ६०० ईसा पूर्व पाणिनि ने संस्कृत को व्याकरण के नियमों से जकड़ दिया। कालिदास आदि की लौकिक सँस्कृत उसी भाषा में लिखी गई है। यद्यपि वह आज तक प्रचलित है तथापि वह शिक्षितों की भाषा रही। अशिक्षितों की भाषा में पहले पाली ने साहित्यिक प्रतिष्ठा प्राप्त की। अशोक के शिला लेख बौद्धो के त्रिपिटक और जातक इसी भाषा में लिखे गये। यह पहली प्राकृत कहलाती है। उसके बाद प्राकृत आई उसके चार रूप थे। शौरसेनी मथुरा प्रान्त की, मागधी बिहार और बंगाल की, अर्द्ध मागधी अवध प्रान्त की। महाराष्ट्रीय महाराष्ट्र की (और कुछ के मत से सारे देश की) इनके अतिरिक्त पैशाची भी है। वह पश्मोत्तर प्रदेशकी हैं। कोई लोग शौरसेनी को प्रधानता देते हैं और कुछ लोग महाराष्ट्री को। पैशाची में लिखी हुई गुणाढ्य की वृहत् कथा प्रख्यात है।

इसके पश्चात अपभ्रंश का समय आया। इन्हीं प्राकृतों से अपभ्रंश भाषाएं बनीं। उनमें ही आजकल की प्रान्तीय भाषाओं का निर्माण हुआ। हिन्दी का अधिकांश में शौरसेनी अपभ्रंश से संम्बन्ध है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास के चार काल।

हिन्दी साहित्य के इतिहास के चार काल माने गये हैं:—

आदिकाल या वीरगाथा काल (संवत १०५०-१३७५)

इसके मुख्य कवि है पृथ्वीराज रासो के रचयिता चन्द्रवरदायी, 'वीसदेवल रासो के कवि नरपति नाल्ह, आल्हखण्ड के कवि जगनिक आदि। इस काल की तीन विशेषताएँ रहीं। (१) कवियों ने अपने-अपने आश्रय-दाताओं का

यशगान किया और छोटे राज्य को ही राष्ट्र समझा । (२) वीर रस के साथ श्रृंगार का पुट रहा । (३) इन रासो ग्रन्थों में राजस्थानी का प्राधान्य रहा ।

पूर्वमध्य काल या भक्ति काल (सं० १३७५-१७००)

इसका जन्म मुसलमानों के पैर जम जाने के पश्चात कुछ समझौते की वृत्ति में जो निर्गुण वादी और सूफी सन्तों में अधिक रही और कुछ अवैर भाव से भगवत शरणागति में पहुँचकर अपने हृदय को तोष और आश्वासन देने की भावना में हुआ । पिछली प्रवृत्ति का प्राधान्य रामभक्त और कृष्णभक्त कवियों में अधिक रहा । इस प्रकार चार धाराएँ चलीं ।

(१) **निर्गुण ज्ञानमार्गी धारा**—इसके मूल प्रवर्तक कबीर थे।ये रामानन्दजी के शिष्य थे । इसमें दादू, नानक, सुन्दरदास आदि बहुत कवि हुए हैं। ये लोग सन्त कवि कहलाते थे । इनकी विशेषताएँ इस प्रकार है । (क) विशेषधर्मों को न मान कर साधारण धर्म को मानना (ख) जाति पांति और बाहरी आडम्बर का विरोध (ग) निर्गुण ब्रह्म की ज्ञान प्रधान नाम की उपासना (घ) हिन्दू मुस्लिम एक्य (ङ) गुरु को ईश्वर के बराबर महत्व देना ।

(२) **प्रेम मार्गी शाखा**—इसके प्रमुख कवि हुए हैं—जायसी, कुतबन उसमान आदि । प्रेममार्गी कवियों की विशेषताएँ इस प्रकार हैं (क) इन्होंने मसनवी पद्धति में लिखा जिसमें कथा सर्ग-बद्ध न होकर खण्डों में विभाजित होती है और खुदा, रसूल, गुरु और बादशाहे वक्त की आरम्भ में प्रार्थना होती है : (ख) इन्होंने अवधी भाषा और दोहा चौपाई छन्द को अपनाया है (ग) इन्होंने हिन्दू प्रेम कथाओं में आध्यात्म की व्यंजना की (घ) ये मुसलमान धर्म को कुछ प्राधानता देते हुए हिन्दी मुसलिम ऐक्य की ओर प्रयत्न-शील रहे ।

(३) **कृष्णभक्ति शाखा**— रामभक्ति और कृष्णभक्ति शाखा के कवि, भक्त कवि कहलाते थे । कृष्ण भक्ति शाखा के प्रवर्तक सूरदास जी थे ।

अष्टछाप के अन्य कवि, मीरा और रसखान इसके मुख्य कवि हैं अष्ट छाप के कवि महाप्रभू बल्लभाचार्य के अनुयायी थे। कृष्ण भक्ति के अन्य कवियों पर निम्बकाचार्य की मध्वाचार्य, हित हरिवंश, चैतन्य महाप्रभु आदि का रहा। हुए। इसकी विशेषताएँ इस प्रकार हैं (क) ब्रज भाषा को इन्होंने अपनाया (ख) भगवान के माधुर्य पक्ष, कृष्ण लीला और भगवत कृपा को महत्ता दी। भगवत कृपा को ही ये लोग पुष्टि कहते थे। अष्ट छाप के कवि जो बल्लभाचार्य के अनुयायी थे पुष्टि मार्ग के सिद्धातों को मानते थे। (ग) मुक्तक गेय पदों को प्राधानता मिली (घ) नियम की अपेक्षा प्रेम की प्राधानता रही।

(४) **रामभक्ति शाखा**—इसके मुख्य कवि तुलसीदास जी थे ये रामानुजाचार्य की साम्प्रदाय के अन्तर्गत रामानन्द साम्प्रवाय के अनुयायी थे। (क) इन्होंने अवधी और ब्रज भाषा दोनों को अपनाया है। (ख) इन्होंने सभी शैलियों को अपनाया किन्तु प्रबन्ध काव्य में विशेषता प्राप्त की (ग) इन्होंने मर्यादा को अधिक महत्व दिया और भगवान के लोक रक्षक ऐश्वर्य-प्रधान-रूप की उपासना की। (घ) इनकी भक्ति नीतिपरक थी। सूर और तुलसी का समय हिन्दी का स्वर्णयुग है। सूर और तुलसी साहित्य-गगन के सूर और शशि कहलाते हैं।

उत्तर मध्य काल या रीति काल (संवत १७००-१६००)

इस काल के मुख्य कवि थे—केशव, चिन्तामणि, देव, मतिराम, भूषण, बिहारी और पद्माकर आदि। इस काल की विशेषताएँ इस प्रकार हैं। (क) इस काल में लक्षण ग्रन्थ (काव्य, रस, अलंकार नायिका भेद के) लिखे गये। लक्षणों की अपेक्षा सरस उदाहरण अधिक दिये गये (ख) शृंगार रस की प्रधानता रही (भूषण ने वीर रस को अपनाया था) (ग) मुक्तक काव्य की ओर अधिक प्रवृत्ति रही (घ) कविता राज्याश्रित रही (ङ) भाषा ब्रजभाषा ही रही उसमें कहीं-कहीं अवधी का भी पुट रहा। नायक और नायिका के रूप में कृष्ण और राधा को प्रधानता मिलती रही।

आधुनिक काल या स्वातन्त्र्य काल (संबत १६००-)

इस काल में खड़ीबोली गद्य का उदय हुआ और पीछे से लाघव (Economy) के नाते खड़ीबोली पद्य का चलन बढ़ा। गद्य के माध्यम से सभी विषयों के ग्रन्थ रचे गये। पद्य में मुक्तक और प्रबन्ध काव्य, जैसे साकेत, कामायनी आदि दोनों ही लिखे हैं किन्तु मुक्तक, जैसे आंसू, पल्लव, वीणा आदि गेय की ओर अधिक रुचि रही। यह इस युगके व्यक्ति-वाद का प्रभाव है। राष्ट्रीयता, मानवता, दु:खवाद (किन्तु आशा-वाद का भी अभाव नहीं रहा) और प्रकृति प्रेम इस काल की विशेषता रही। इस काल में थोड़ी रहस्यवाद की भी कविताएँ हुई। उसके पश्चात मार्क्सवाद से प्रभावित प्रगतिवाद आया। इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी साहित्य समय के अनुकूल हमारी भावनाओं को विकसित करता रहा है। प्राचीन भारतीय संस्कृति का सबसे सुन्दर रूप हमको तुलसीदास में मिलता है। जायसी और कबीर में हिन्दू-मुस्लिम सम्मिलित प्रभाव मिलते हैं। कबीर बौद्ध और चारवाकों से भी प्रभावित थे। आजकल की कविता पर अंग्रेजी काव्य शैलियों के साथ-साथ रवीन्द्र, गांधी और मार्क्स के प्रभाव मुख्य हैं।

कला के विकास के साथ हिन्दी साहित्य का किस प्रकार विकास हुआ, इस सम्बन्ध में हम डाक्टर श्याम सुन्दर दास की हिन्दी साहित्य नाम की पुस्तक से एक उद्धरण दे रहे हैं। इससे यह स्पष्ट होजायगा कि साहित्य और कलाओं के विकास में एकसी चित्र वृत्तियाँ काम करती हैं।

"ऊपर हम विविध कलाओं के विकास का जो संक्षिप्त विवरण दे आए हैं, उससे कुछ निष्कर्षों पर पहुँचते हैं। सब कलाऐं मानव चित्तवृत्तियों की अभिव्यक्ति हैं। जिस देश में जिस काल मे हमारी जैसी चित्तवृत्ति रहती है वैसी ही प्रगति ललित कलाओं की होना स्वाभाविक है। हमने हिन्दी साहित्य के इतिहास को चार कालों में विभक्त किया है। अन्य

ललित कलाओं का दिग्दर्शन कराते हुए भी हमने साहित्य के उपर्युक्त चार काल-विभागों को प्रधानता दी है और उसी के अनुरूप सब ललित कलाओं का काल-विभाग भी किया है । इस प्रकार जब हम विभिन्न कालों की साहित्यिक परिस्थिति के साथ उन-उन समयों की ललित कलाओं की परिस्थिति की तुलना करते हैं तब एक ओर तो हम उनमें बहुत कुछ समता पाते हैं; पर जहाँ कुछ विभेद मिलता है वहाँ उस काल की जनता की उन चितवृत्तियों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित होता है जिनका प्रतिबिम्ब साहित्य में नहीं देख पड़ता । इससे हमको बहुत कुछ व्यापक रीति से तत्कालीन स्थिति को समझने में सहायता मिलती है ।

हिन्दी का आदि-काल वीरगाथाओं का काल था । प्रबन्ध काव्यों और वीर गीतों के रूप में वीरों की प्रशस्तियाँ कहीं गईं । वीरता के साथ तत्कालीन विलासिता का चित्र भी उस काल की रचनाओं में मिलता है । भाषा की तत्कालीन रुक्षता भी एक प्रकार की कर्कशता का ही बोध कराती है । उस काल की वास्तुकला और मूर्तिकला को पहले लीजिए । शैव और शाक्त के मतों की उन्नति थी, इसलिए शिवमंदिरों में सबसे अधिक मौलिकता देख पड़ी, अन्य मंदिर उनके अनुकरण में बनाये गये । मूर्तियों में अलंकरण बढ़ रहे थे और भाव-भंगी कम हो रही थी । यह तत्कालीन जनता की वाह्य श्रृंगारप्रिय तथा गम्भीर अनुभूतिहीन चित्तवृत्ति का सूचक है । चित्रकला भी बहुत कुछ ऐसी ही रही । प्राकृत और अपभ्रंश ग्रन्थों में चित्र रचना के जो उल्लेख मिलते हैं, वे उस काल के पूर्व के हैं ।

उस काल की प्रधानता—गुजराती चित्रण शैली का पतन हो रहा था, केवल जैनों में उसका थोड़ा-बहुत प्रचार था और उसकी उन्नति हुई थी । संगीत में आवश्यकता से अधिक संलग्न रहने के कारण राजपूतों की शक्ति क्षीण पड़ रही थी । आधुनिक कर्णाटकी संगीत की मूल शैली का उस समय अच्छा प्रचार था ।

हिन्दू और मुसलमानों के संघर्ष के उपरान्त दोनों जातियों में भावों और विचारों का आदान-प्रदान होने लगा। साहित्य में इसका सबसे मुख्य प्रमाण कबीर और जायसी आदि की वाणी है। परन्तु साहित्य में हिन्दू और मुस्लिम मतों का सम्मिश्रण कुछ देर से देख पड़ता है। अन्य कलाओं में मुसलमानी प्रभाव कुछ पहले से ही पड़ने लगा था। वीरगाथा-काल में मूर्तियों की अधोगति का कारण मुसलमानों का मूर्ति विद्रोह था। दिल्ली की मुसलमानी इमारतों में भारतीय शैलियाँ स्वीकृत की गईं और हिन्दू मंदिरों के निर्माण में कुछ मुस्लिम आदर्श आ मिले। परन्तु संगीत में तो इन दोनों जातियों के योग से अभूतपूर्व परिवर्त्तन हुआ। इस परिवर्तन के विधायक संगीताचार्य अमीर खुसरो थे, जो आधुनिक खड़ी बोली हिन्दी के आदि आचार्य माने जाते हैं।

हिन्दी साहित्य का भक्तिकाल उसके चरम उत्कर्ष का काल था। भाषा-प्रौढ़ता के साथ विचारों की व्यापकता और जीवन की गंभीर समस्याओं पर ध्यान देने का यही समय था। विशाल मुगल साम्राज्य के प्रधान नायक अकबर के राजत्व काल में यह सम्भव न था कि साहित्य के विकास के साथ सभी ललित कलाओं का विकास न होता। जो काल साहित्य में सूर और तुलसी को उत्पन्न कर सका था, वही काल कलाओं की सामूहिक उन्नति का था। अकबर की सामंजस्य बुद्धि और उदारता की स्पष्ट छाप फतहपुरसीकरी की इमारतों में तो दीख पड़ती ही है, वह तानसेन आदि प्रसिद्ध संगीतज्ञों की आविष्कृत संगीत-शैलियों में भी स्पष्ट दिखाई देती है। चित्र-कला भी बहुत दिनों तक पिछड़ी न रह सकी। शीघ्र ही उस राजपूत शैली का बीजारोपण हुआ जो आगे चल कर भारत की, अपने ढंग की, अनोखी अंकन-प्रणाली सिद्ध हुई। हिन्दूमंदिरों में भी मुसलिम प्रभाव पड़े। मानसिंह द्वारा निर्मित भवनों में मुस्लिम-निर्माण-लिपि का बहुत अधिक अनुकरण था। राजपूताने की भवन निर्माण-शैली पर मुस्लिम कला की छाप अमिट है।

विकास के उपरान्त ह्रास और ह्रास के उपरान्त विकास का क्रम सर्वत्र देखा जाता है। सूर और तुलसी के पीछे देव और बिहारी का युग आया। विलासिता और शृंगारिकता का प्रबाह प्रबल पड़ा। साहित्य कुत्सित वासनाओं के प्रदर्शन का साधन बन गया। उसका उच्च लक्ष्य भुला दिया गया। यह शाहजहाँ और औरंगजेब का काल था। इस काल का प्रसिद्ध "ताजमहल" वास्तुकला के चरम उत्कर्ष का आदर्श माना जा सकता है। परन्तु उसी समय अवनति का भी प्रारम्भ हुआ। औरंगजेब धार्मिक नृशंसता का प्रतिनिधि और कलाओं का संहारक है। सुन्दर हिन्दू-मंदिरों को भंग कर जो उजाड़ मस्जिदें उसने बनवाईं, उनसे उसकी हृदय हीनता का पता लग जाता है। उसने मुस्लिम धर्म के अनुसार नाच गान आदि बन्द करा दिया था। जिसमें संगीत कला को बड़ी क्षति पहुँची। मूर्तियों और चित्रों का भी ह्रास ही हुआ।

इस पतन-काल में महाराष्ट्र शक्ति का अभ्युदय हुआ था जिसमें साहित्य की शृंगार धारा में भूषण की ओजिस्वनी रचनाएँ देख पड़ी। मराठों में उत्कट कला-प्रेम का बीज था, परन्तु वे सुखशांति-पूर्वक नहीं रहे, निरन्तर युद्ध में ही व्यस्त रहे। फिर भी उन्होंने संगीत कला की थोड़ी बहुत उन्नति की और काशी के मंदिरों और घाटों के रूप में अपनी वास्तुकला-दक्षता का परिचय दिया। इसके कुछ समय पीछे सिख शक्ति का अभ्युत्थान हुआ, पर इसी बीच में अग्रेजों के आ जाने और राजस्थापन में प्रवृत्त होने से जो अशान्ति फैली, उसके कारण कलाओं की उन्नति रुक गई।

आधुनिक काल में यद्यपि साहित्य की अनेकमुखी धाराएँ बह निकली हैं पर अब तक इनमें गहराई नहीं आई है। पश्चिमी आदर्शों की छाप और नकल अधिक दीख पड़ने लगी है। आशा है कि शीघ्र ही हम नकल का पीछा छोड़ साहित्य में ही नहीं, प्रत्युत प्रत्यक ललित कला में अपने आदर्शों की रक्षा करते हुए स्वतंत्र रूप से उन्नति करेंगे।"

भारतीय धर्म और दर्शनों की रूपरेखा

धार्मिक इतिहास—पश्चात्य देशों में धर्म और दर्शन दो अलग वस्तुएं मानी जाती हैं यद्यपि वहां का भी दर्शन धर्म से प्रभावित है। हमारे कुछ दर्शन तो जैसे चारवाक धर्म से निरपेक्ष रहे किन्तु अधिकांश में दार्शनिक विचार भी धर्म से सम्बद्ध रहे हैं। धर्म में श्रद्धा विश्वास के साथ अपने से किसी बड़ी सत्ता के आगे, चाहे वह ईश्वर हो, चाहे वह तीर्थंकर हो, चाहे वह धर्म या संघ हो और चाहे मानवता हो नमनशील बनना पड़ता है। यद्यपि हमारे यहां के दर्शनों का उद्देश्य व्यावहारिक है। दुःख से, निवृत्ति तथापि धर्म में कुछ विषेश पूजा पद्धतियां, रीति रिवाज, जीवन का दृष्टि कोण और सामाजिक व्यवहार भी सम्मिलित रहता हैं। दर्शन व्याख्यात्मक अधिक है। अपने यहां के दर्शनों का दृष्टिकोण हम आगे चलकर बतायेंगे।

भारत में आरम्भ में वैदिक धर्म की प्रधानता रही। यद्यपि उसमें कर्मकाण्ड, ज्ञान काण्ड और उपासना काण्ड तीनों का स्थान रहा, तथापि उसमें कर्मकाण्ड का प्रधान्य था। वह यज्ञ प्रधान धर्म था। हिन्दू धर्म में वेदों की प्रधानता रही। उसके बाद स्मृतियों और पुराणों की भी मान्यता रही। पुराणों के प्रभाव से अवतारवाद त्रिदेवोपासना और मूर्तिपूजा बढ़ी। वैदिक कर्म काण्ड हिंसाप्रधान हो गया। उसकी प्रतिक्रिया में ही जैन धर्म और बौद्ध धर्म का उदय हुआ। बौद्ध धर्म को राजसत्ता का भी पोषण मिला। थोड़ा बहुत पोषण जैन धर्म को भी राज शासन से मिला। जैन और बौद्ध धर्म की भांति वैदिक युग के उपासना के तत्वों को लेकर श्रीमद्भगवत गीता और श्रीमद्भागवत के आधार पर अहिंसा प्रधान वैष्णव सम्प्रदाय का उदय हुआ। नगरी के २०० ईसवी सन के शिला लेख में संकर्मण और वासुदेव की मूर्तियों का उल्लेख है। वासुदेव का उल्लेख पाणिनी के व्याकरण में भी है। विष्णु के दश अवतार माने गये हैं—मत्स्य, कूर्म

बाराह, नृसिंह, बामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि। कहीं-कहीं २४ अवतार भी माने गये हैं। बौद्ध धर्म के भारत से लुप्त प्राय हो जाने के कुछ स्वभाविक कारण भी थे। उसकी महायान शाखा शैव सम्प्रदाय से बहुत घुल मिल गई थी। भिक्षुओं का जीवन भी आदर्श जीवन नहीं रह गया था। बौद्ध धर्म का सभी वर्ग के और सभी देशों के लोगों में प्रचार होजाने से अहिंसावाद का भी वह मान नहीं रह गया था। इन सब बातों के अतिरिक्त मौर्य राज वंश के पतन के पश्चात उसका राज पोषण जाता रहा था और कुछ शंकराचार्य (जन्म ७८८ ई०) के प्रभाव से भी उसको धक्का लगा। शंकराचार्य के बौद्धधर्म के खण्डन में तो कुमारिल भट्ट आदि कर्मकाण्डी आचार्य उनको पोषण देरहे थे किन्तु आपसी मतभेद बने हुए थे। शंकराचार्य को कर्मकाण्डी मण्डन मिश्र से लोहा लेना पड़ा था। कुमारिल भट्ट से शंकराचार्य शास्त्रार्थ करना चाहत थे किन्तु जब वे वहां गये कुमारिल भट्ट अपने बौद्ध गुरुओं से छद्मवेश में विद्या पढ़ कर उनके ही ग्रन्थों का खण्डन करने के प्रायश्चित में भुसी की आग में जीवन लीला समाप्त कर रहे थे। यह थी उस समय की गुरुभक्ति ।

शंकराचार्य के पश्चात रमानुजाचार्य (जन्म १०१६ ई.) ने उनके दार्शनिक सिद्धान्तों का खण्डन किया और रामानुज संप्रदाय की स्थापना की। उन्होंने नारायण की उपासना चलाई । उनकी ही शिष्य परम्परा में रामानन्दजी हुए। उन्होंने रामोपासना को मुख्यता दी और कुछ उदारता के साथ शिष्य बनाये। कबीर इन्हीं के शिष्य थे। तुलसीदास जी भी इन्ही की शिष्य परम्परा में थे। बल्लभाचार्य (जन्म १४९७ ई०) के अपना पुष्टि मार्गी सम्प्रदाय चलाया। बल्लभाचार्य, निम्बाकाचार्य और मध्वाचार्य (जन्म १२५७ ई०) का प्रभाव कृष्ण भक्त वैष्णवों पर पड़ा। बल्लभाचार्य के शिष्यों में अष्ट छाप के कवि प्रसिद्ध हुए। गीतगोविन्द के कर्ता जयदेव श्री निम्बार्क के शिष्य थे। चैतन्य महाप्रभू जिन्होंने बंगाल और व्रज भूमि में भी भक्ति का स्रोत बहाया मध्वाचार्य से प्रभावित थे। इधर महाराष्ट्र में भी समर्थ रामदास जी जो शिवाजी के गुरू थे, ज्ञानेश्वर, नामदेव आदि ने भक्ति की लहर प्रवाहित की। वैष्णव धर्म में अहिंसावाद के

साथ-साथ भक्ति भावना का प्रचार किया। राम और कृष्ण को शील, सौन्दर्य और शक्ति प्रधान आदर्श चरित्रों को सामने रखा।

इन वैष्णव साम्प्रदायों के अतिरिक्त शैव और शाक्त साम्प्रदाय भी चलते रहे। शैव साम्प्रदाय के अन्तर्गत लकुलीश या नकुलीश, पाशुपत, लिंगायत, कापालिक आदि कई साम्प्रदाय हुए हैं। कापालिक लोग शिव के रुद्र रूप की पूजा करते हैं। शैवों की पूजा में कवेल, धतूरा आदि के फूलों और विल्व पत्रों का अधिक प्रचार है। शैव लोग त्रिपुण्ड धारण करते हैं और रुद्राक्ष की माला पहिनते हैं।

शाक्त लोग प्रायः हिंसावादी होते हैं। वे भगवान की शक्तियों के उपासक होते हैं। उनमें कुछ सौम्य है और कुछ उग्र। सौम्य शक्तियों या देवियों के नाम इस प्रकार हैं:—ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी नारसिंही और ऐन्द्री। इनको मातृका कहते हैं। काली, कराली, कपाली, चामुण्डा और चण्डी, ये देवियों के उग्ररूप हैं और इनकी उपासना कापालिकों में होती है। वाममार्गी लोग कौल कहलाते हैं। ये भी शाक्तों में से ही हैं। इनमें से कुछ तो मास, मदिरा और मैथुन आदि पंच मकारों का खुला प्रचार करते हैं और कुछ इनका हट योगी अर्थ लगाते हैं। शाक्त लोगों में जवाकुसुम के फूल तथा अन्य लाल चीजों का अधिक चलन रहता है।

भारत में आठवी शती से मुसलमानों का आगमन शुरू हो गया था। बारहवी तेरहवी शताब्दी में आक्रमणों ने उग्ररूप धारण कर लिया था और धर्म परिवर्तन भी हुए। ईसाई धर्म तो भारत में यूरोप से भी पहले ईसा की पहली शती में मद्रास में आया किन्तु प्रचार कार्य पश्चिमी शक्तियों के भारत में प्रभुत्व प्राप्त करने पर प्रारम्भ हुआ। इसाइयों ने अधिकांश में शिक्षाद्वारा धर्म का प्रचार किया और कुछ अछूतोद्धार द्वारा। मुसलमान शक्ति से लोहा लेने के लिये सिक्ख धर्म का उदय हुआ। यह धार्मिक और राजनीतिक सम्प्रदाय था सिक्ख धर्म गुरुओं का (सिक्खों के दस गुरू हुए हैं। गुरू नानक (जन्म सन १४६७ ई०) प्रथम गुरू हुए और गुरू गोविन्द सिंह अन्तिम गुरू हुए हैं।

और अब गुरुओं के स्थान में ग्रन्थ साहब की मान्यता है) वे जाति पांति को नहीं मानते हैं। कड़ा, केश, कंघा, कृपाण और कच्छ पंच ककारों का विशेष आदर करते हैं। सिक्ख संस्कृति में पान सिगरेट और अन्य नशैली वस्तुऐं निषिद्ध समझी जाती हैं। आर्य समाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द थे। उन्होंने सन १८६३ के करीब अपना प्रचार कार्य प्रारम्भ किया था। आर्य समाज पुरानी वैदिक सभ्यता का प्रचार करते थे। वे मूर्ति पूजा और श्राद्ध को नहीं मानते थे। समाज सुधार का भी आर्य समाज ने बहुत काम किया। उसने ईसाई और मुसलिम धर्म की बढ़ती हुई लहर को रोका। हिन्दी और संस्कृत के प्रचार में आर्य समाज ने बड़ा योग दिया।

जो कार्य स्वामी दयानन्द ने पंजाब और उत्तर प्रदेश में किया वह कार्य बंगाल में राजा राम मोहनराय ने किया। सती प्रथा को उठवाया और विधवा विवाह को प्रोत्साहन दिया। केशव चन्द्र सेन ब्राह्म समाज को ईसाई धर्म के बहुत निकट ले आये। ब्राह्म समाज में बुद्धिवाद का अधिक महत्व है। ये शब्द प्रमाण नहीं मानते परन्तु उपनिषदों के कुछ वाक्यों को (जैसे "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म") अधिक महत्व देते हैं। राजा राम-मोहनराय की प्राचीन ब्रह्म समाज भारतीय संस्कृति के अधिक निकट है। केशवचन्द्र सेन की ब्राह्म ईसाई धर्म। के (विशेषकर यूनीटेरियन इसाइयों के) अधिक निकट आगया था। ब्राह्म समाज ने भारत को सर जगदीशचन्द्र वसु जैसे वैज्ञानिक और रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसे कवि और विचारक दिये। आजकल भारतवर्ष में बुद्धि वाद का प्रचार बढ़ता जाता है। जाति पांति के बंधन शिथिल होते जाते हैं। विदेशी संस्कृति का अधिक प्रचार है फिर भी देशी संस्कृति की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित हो रहा है।

दर्शन

दर्शन नाम की सार्थकता—दर्शन कहते हैं देखने को। यह शब्द देवादि महान सत्ताओं को देखने में विशिष्ट हो गया है, जैसे चन्द्र-दर्शन, देव-दर्शन आदि। किन्तु दर्शन सदा मूर्त पदार्थों का ही नहीं होता है वरन्

अमूर्त पदार्थों का भी होता है। उपनिषदों में आत्मा को भी दर्शन का विषय माना है— 'आत्मा वा परे दृष्टव्यः श्रोतव्यः मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' दर्शन द्वारा परम दैवत ब्रह्मस्वरूप सत्य के दर्शन किये जाते हैं। हमारे वाताम्बुपरणहारी ऋषियों ने भारत के विस्तृत तपोवनों में, जिनकी महिमा रवि बाबू ने 'प्रथम सामरव तव तपोवने' लिख कर गाई है, सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' के दर्शन कर अमरत्व प्राप्त किया था। यह दर्शन भिन्न भिन्न झरोकों में से प्राप्त करने के कारण पूर्ण नहीं हो सकता किन्तु देवताओं की सी झाँकी का सा महत्व रखता है। यही दर्शन शब्द की सार्थकता है और यही भारतीय दृष्टि-कोण को अन्य देशों के दृष्टि-कोण से पृथक कर देता है। अंग्रेजी में दर्शन का पर्यायवाची शब्द है Philosophy उसका शाब्दिक अर्थ होता है ज्ञान का प्रेम। इसलिये उनका दृष्टि-कोण केवल बौद्धिक जिज्ञासा का है। भारतीय मनीषी, दर्शन को केवल चिन्तन की वस्तु नहीं समझता वरन् साक्षात्कार का विषय बनाता है। इसलिये उपनिषदों में आत्म ज्ञान के लिए तप और ब्रह्मचर्यादि साधन बतलाए हैं। यही हमारे यहाँ के दर्शनों की विशेषता है कि केवल बुद्धि का विलास नहीं वरन् साधन के विषय हैं।

पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी प्रतिभा ज्ञान (Intution) को माना है। वह बौद्धिक ज्ञान से ऊँचा है किन्तु उसमें योग का सा साक्षात्कार नहीं है। भारतवर्ष में दर्शन का एक व्यावहारिक उद्देश्य है, वह 'घृताधारं पात्रं वा पात्राधारं घृतं' की सी केवल कौतूहलमयी जिज्ञासा नहीं है। उन्होंने उसको अमरत्व प्राप्ति का साधन माना है। भारतीय मनोवृत्ति आध्यात्मिक है। वह अपने पुरुषार्थ की इति-कर्तव्यता इस दृश्य जगत के क्षण भंगुर वैभव की उपलब्धि में नहीं समझता है।

हमारे यहाँ धर्म और दर्शन का उद्देश्य एक ही रहा है। वह है सांसारिक अभ्युदय और निश्रेयस की प्राप्ति। किन्तु धर्म का अर्थ साम्प्र-

दायिकता नहीं रहा है । 'अथातो धर्म व्याख्यास्याम:' यह वैशेषिक जैसे भौतिक दृष्टि-कोण प्रधान दर्शन की ही भूमिका है । हमारे सांसारिक अभ्युदय की नितान्त अपेक्षा नहीं की गई है किन्तु वह जीवन का अन्तिम लक्ष्य नहीं रहा है ।

संख्या और क्रम—भारतीय दर्शनों की संख्या निर्धारित करना कठिन है क्योंकि दर्शन शास्त्र का विषय व्यापक है। यह सभी विद्याओं का प्रदीप है । सबका इससे सम्बन्ध है और सभी अन्तिम तत्व इसके प्रकाश के मुखापेक्षी रहते हैं । इसीलिए तो हमारे यहाँ पाणिनि और रसेश्वर दर्शनों के नाम से व्याकरण और आयुर्वेद के भी दर्शनों को स्थान मिला है । सर्वदर्शनकार ने सोलह दर्शन माने हैं ।

साधारणतया हम दर्शनों के दो विभाग कर सकते हैं—वैदिक और अवैदिक । इन्हीं को हमारे यहाँ आस्तिक और नास्तिक दर्शन कहा गया है । हमारे यहाँ वेदों की प्रतिष्ठा ईश्वर से भी अधिक है । वेद की प्रतिष्ठा ज्ञान का सम्मान है । 'नास्तिको वेदनिन्दक:' सांख्य दर्शन ईश्वर की उपेक्षा करके भी आस्तिक है क्योंकि वह वेदों को शब्द प्रमाण मानता है । आस्तिक दर्शनों के नाम इस प्रकार है—वैशेषिक, न्याय, सांख्य, योग, पूर्व-मीमांसा और उत्तर मीमांसा (वेदान्त) । चार्वाक, जैन और बौद्ध दर्शन नास्तिक दर्शनों में प्रमुख हैं । हमारे यहाँ के दार्शनिक सदा देश और काल के परे जाने का प्रयत्न करते रहे हैं । इसीलिये उन्होंने काल की परवाह भी नहीं की । भारत के अन्य वाङ्मय की भांति दार्शनिक साहित्य का काल-क्रम निर्धारित करना कठिन है। भारतीय दर्शनों के मूल सिद्धांत उपनिषद काल में बहुत पहले निर्धारित हो चुके थे किन्तु उनका नामकरण और उनको सूत्र-बद्ध रूप में लाना पीछे से हुआ है । हम केवल यही कह सकते हैं कि पहले वेद, फिर उपनिषद्, उसके पश्चात सूत्र और उसके

पश्चात उनके वार्तिक, भाष्य, टीका, कारिका आदि ग्रंथ रचे गये। ये सूत्र अनुमानतः मौर्य युग के कुछ पहले ही लिखे गये होंगे। डाक्टर गौरीशंकर हीराचन्द ओझा दर्शनों को ईसा पूर्व छठी शताब्दी में सूत्रबद्ध होजाना मानते ह। वाल्मीकीय रामायण, महाभारत (विशेषकर श्रीमद्भगवद्गीता) में और श्रीमदभागवत आदि पुराणों में जो दार्शनिक चिन्तन हुआ है वह उपेक्षणीय नहीं है। सम्प्रदायों के तंत्र ग्रन्थों में भी उच्च कोटि का दार्शनिक विवेचन है।

यदि हम यह मान लें कि विकास का क्रम स्थूल से सूक्ष्म की ओर है तो इस दृष्टिकोण से हम दर्शनों के तार्किक क्रम (Logical order) का अनुमान लगा सकते हैं। वैशेषिक, न्याय, सांख्य, योग, पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा (वेदान्त) एक दूसरे के पश्चात तार्किक क्रम से आते हैं और सम्भव है कि यह काल-क्रम भी हो।

वैशेषिक—इसके प्रवर्तक महर्षि कणाद हैं। कणाद शब्द का अर्थ है कणों (खेत में पड़े हुए अन्न के कणों को खाने वाले) यह था ऋषियों का सांसारिक वैभवहीन सात्विक जीवन। सम्भव है कि कण या परिमाणुओं को मानने के कारण यह नाम पड़ा हो। वैशेषिक नाम 'विशेष' नाम के एक पदार्थ मानने के कारण पड़ा। वैशेषिक का दृष्टि कोण यद्यपि भौतिक है तथापि उसका उदय धर्म की व्याख्या के लिए ही हुआ है, 'अथातो धर्म व्याख्यास्यामः' धर्म से सांसारिक अभ्युदय और निश्रेयस (Summum Bonum) की प्राप्ति होती है। निश्रेयस की प्राप्ति पदार्थों के ज्ञान द्वारा होती है। इस सम्बन्ध में पदार्थों की व्याख्या हो जाती है। पदार्थ ६ माने गये हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय। इनमें सब वस्तुओं को विशेष रूप से ही देखा गया है। आत्मा को अन्य और द्रव्यों (पंच तत्व, काल, दिशा, आत्मा और मन) के साथ एकद्रव्य माना है। वैशेषिक ने परिमाणुओं को माना है।

न्याय—इसके प्रवर्तक हैं महर्षि गौतम, जिनको अक्षपाद भी कहते हैं। न्याय शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है। 'नीयते प्राप्यते विविक्षितार्थ-सिद्धिरनेन इति न्यायः' अर्थात जिसके द्वारा अभीष्ठ अर्थ की सिद्धि तक पहुँचाया जाय वही न्याय है। न्याय में विवेच्य विषयों की अपेक्षा विवेचन या सत्योपलब्धि के साधनों पर अधिक ध्यान दिया गया है। इसी लिए उनके सोलह पदार्थों में पंद्रह तर्कशास्त्र से सम्बन्ध रखते हैं और प्रमेय में दुनियाँ के और सब विषय आ जाते हैं। न्याय के पदार्थ इस प्रकार हैं—प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धांत, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास (fallacy), छल, जाति, निग्रहस्थान। पिछले छय दूषित तर्क ही हैं। न्याय ने प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द नाम के चार प्रमाण माने हैं। प्रमाण प्रमा वा यथार्थ ज्ञान के साधन हैं। वैशेषिक में उपमान और शब्द को स्वतन्त्र स्थान नहीं दिया गया है।

न्याय में बारह प्रमेय माने गये हैं। वे हैं—आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृति, दोष, प्रेत्यभाव (मरणोत्तर जीवन), फल, (कर्मफल) दुख अपवर्ग (मोक्ष)। अन्य दर्शनों की अपेक्षा न्याय का विकासक्रम बहुत काल तक चलता रहा। नव्य न्याय ने तर्क शास्त्र को तत्व ज्ञान से पृथक कर शुद्ध तर्क शास्त्र की स्थापना की और व्याप्ति ग्रहण (Induction) के उपायों की विशद विवेचना की। यह क्रम उन्नीसवीं शताब्दी तक चलता रहा। नव्य न्याय के लिए नवद्वीप नदिया शान्तिपुर बहुत प्रख्यात है।

न्यायवैशेषिक दर्शनों की मान्यताएँ प्रायः एक सी हैं और उनको एक वर्ग में रखा जाता है। तर्क संग्रह, तर्क भाषा, आदि जो प्रकरण ग्रन्थ बने उनमें न्याय वैशेषिक के सिद्धान्त सम्मिलित हैं। आर्य्यसमाज में इन दर्शनों की विशेष प्रतिष्ठा है।

सांख्य—इसके प्रवर्तक महर्षि कपिल हैं। सांख्य के सिद्धांतों का

उल्लेख श्रीमद्भागवत में भी है। उसमें कपिल के तत्वों को गिनाने वाला (तत्व संख्याता) कहा है। सांख्य ने २५ तत्व माने हैं :—इनमें पुरुष और मूल प्रकृति मुख्य है। पुरुष के अस्तित्व के कारण प्रकृति में विकास प्रारम्भ होता है।

इस संयोग में अन्ध-पंगू न्याय से प्रकृति पुरुष दोनों को ही लाभ है। प्रकृति ज्ञान के अभाववश अन्धी है, पुरुष क्रिया के अभाव के कारण पंगु है। अन्धा लंगड़े को यदि अपने ऊपर बैठा ले तो दोनों रास्ता चल सकते हैं। अन्धा चलेगा, लंगड़ा रास्ता बतायगा। इसी प्रकार प्रकृति और पुरुष के संयोग से सृष्टि चलती है। प्रकृति पुरुष के बन्धन का भी कारण है और मोक्ष का भी।

सांख्य को अधिकांश लोगों ने निरेश्वर माना है और योग को सेश्वर सांख्य कहा है। प्रकृति पुरुष के अस्तित्व मात्र से स्वयं ही कार्य कर लेती है। उसमें ईश्वर की जरूरत नहीं पड़ती। सांख्य सूत्रों में एक प्रसंग विशेष में 'ईश्वरासिद्धेः प्रमाणाभावात्' कहा है। इसी के आधार पर विद्वानों ने सांख्य के निरेश्वर होने की कल्पना की है। ईश्वर की सिद्धि साधारण प्रमाणों से नहीं होती है।

योग—इसके प्रवर्त्तक हैं महर्षि पतञ्जलि। चित्तवृत्तियों के निरोध को योग कहते हैं। 'योगश्चितवृत्तिनिरोधः'। जिस प्रकार वैशेषिक के सिद्धान्तों की पुष्टि न्याय प्रतिपादित प्रमाणों से होती है उसी प्रकार सांख्य की पुष्टि और पूर्ति योग द्वारा होती है। महर्षि पतञ्जलि के अनुसार योग के आठ अंग हैं। वे इस प्रकार हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। योग दर्शन में कर्म की विशद व्याख्या है। योगदर्शन में सांख्य की सृष्टि योजना में ईश्वर का स्थान स्पष्ट कर दिया जाता है। वह उस माली का सा है जो बरहे को

साफ कर पानी की गति को अबाधित कर देता है। मेरी समझ में सांख्य की सृष्टि-योजना में इतनी गुंजाइश अवश्य है कि प्रकृति की साम्यावस्था को विषम बना कर सृष्टि क्रम जारी करने के लिए एक निमित्त कारण की आवश्यकता प्रतीत होती है।

पूर्व मीमांसा—इसके आचार्य हैं महर्षि जैमिनी। यद्यपि इनका विषय धर्म की जिज्ञासा है तथापि इसमें वेदों के पौरुषेय या अपौरुषेय होने तथा उनके अर्थ लगाने की विधि और यज्ञों का विवेचन है।

मीमांसा में कर्म की प्रधानता है—'कर्मेति मीमांसकाः'। इस प्राधनता के कारण कुछ लोगों ने मीमांसा शास्त्र को निरेश्वर माना है। इसका कारण यह है कि कर्म फल देने में ईश्वर की आवश्यकता नहीं रखी गई है। कर्म स्वयं ही फलवान हो जाते हैं। किन्तु जो शास्त्र वेदों को पूर्णतया प्रामाणिक मानता है वह ईश्वर का अस्तित्व अस्वीकार नहीं कर सकता है।

उत्तर मीमांसा वा वेदान्त—वेदान्त शब्द के कई प्रकार से अर्थ किये गए हैं—वेदों का अन्त अर्थात् वेदों के कर्म और उपासना के पश्चात् ज्ञान काण्ड जो उपनिषदों में प्रतिपादित है। वेदान्त का एक अर्थ यह भी हो सकता है कि जो विद्या वेदों के अध्ययन के पश्चात् आती हो। वेद और उसके अंगो को अपरा विद्या कहा है और वेदान्त या ब्रह्म विद्या को परा-विद्या कहा है:—तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः•••अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।

(वेदों के अन्त, सार व निचोड़ को भी वेदान्त कह सकते हैं। उत्तर मीमांसा शब्द में भी यही भाव है। वेदों के ज्ञानकाण्ड का विकास हमको उत्तरकालीन उपनिषदों में मिलता है। इसलिये ज्ञानप्रधान वेदान्त उत्तर-कालीन मीमांसा नाम से प्रख्यात हुआ। कर्मकाण्ड प्रधान मीमांसा, पूर्व

मीमांसा कहलाईं। वेदान्त में तीन ग्रन्थ प्रमाणित माने जाते हैं—उपनिषद् ब्रह्मसूत्र और श्रीमदभगवद्गीता, इनको प्रस्थानत्रयी भी कहते हैं। ब्रह्म-सूत्र के कर्त्ता बादरायण या वेदव्यास जी हैं। ब्रह्मसूत्र में चार पाद है जिनमें चार-चार अध्याय के हिसाब से सोलह अध्याय हैं। ये चार पाद स्वयं ब्रह्म के ही द्योतक हैं। छान्दोग्य उपनिषद में कहा गया है—'पादोऽस्य विश्व भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' अर्थात् सारा विश्व ब्रह्म का एक चौथाई भाग है और तीन पाद में वह अमृत रूप से स्थित है। ब्रह्म का व्यापक अंश थोड़ा है, संसार से जो परे अतीत अंश (Transendental) है वह बहुत है। ब्रह्मसूत्रों पर भिन्न-भिन्न आचार्यों नें अपने-अपने मत के अनुसार टीकाएँ की हैं। यद्यपि वे एक ही ग्रन्थ की टीकाएँ हैं और उनमें सिद्धान्त का काफी भेद है तथापि वे सब श्रुति-वाक्यों से बंधे हुए हैं और सब ही किसी न किसी प्रकार से जीव और ब्रह्म की एकता मानते हैं। सिर्फ मध्वाचार्य पूर्ण द्वैतता मानते हैं।

श्री शंकराचार्य का सिद्धांत अद्वैतवाद कहलाता है। इनका सिद्धांत इस प्रकार है—'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापर:' अर्थात् ब्रह्म सत्य है संसार मिथ्या है और जीव ब्रह्म है, दूसरा नहीं। वे अभद को मानते हैं। सारे भेद मायाकृत हैं और झूठे हैं। श्री शंकराचार्य का वेदांत भाष्य शारीरिक-भाष्य कहलाता है।

श्री रामानुजाचार्य का सिद्धांत विशिष्टाद्वैत कहलाता है। इस सिद्धांत का प्रतिपादन श्री भाष्य में हुआ है। वे ब्रह्म को जगत और जीव से विशिष्ट मानतेहैं। चित (जीव) अचित (संसार) और ईश्वर तीनों मिलकर हरि है—'ईश्वरश्चिदचिच्चेद पदार्थ त्रितयं हरिं' श्री बल्लभाचार्य का सिद्धांत शुद्धाद्वैत कहा जाता है। वे सच्चिदानन्दब्रह्म में सत् + चित + आनन्द तीनों गुण मानते हैं। जीव में आनन्द का तिरोभाव रहता है और सत और चित का भाव रहता है। जड़ में आनन्द और चित दोनों का अभाव रहता है केवल सत का भाव रहता

है । वे संसार को झूठा नहीं मानते । इनका सम्प्रदाय पुष्टि मार्ग भी कहलाता है। पुष्टि भगवान के अनुग्रह को कहते हैं । बल्लभाचार्य का भाष्य अणुभाष्य कहलाता है। निम्बार्काचार्य का सिद्धांत द्वैताद्वैत कहलाता है। जीव की यह पृथक सत्ता मानते हुए भक्ति द्वारा उसमें लीन हो जाना बतलाते है। वे राधा कृष्ण की उपासना पर बल देते हैं।

मध्वाचार्य पूर्ण द्वैतवादी हैं । वे जीव जगत का और जीव और ब्रह्म का भेद मानते हैं। जगत के पदार्थों में भी मौलिक भेद मानते हैं।

समन्वय—यद्यपि भारतीय दर्शनों की संख्या छय है और उनमें परस्पर भेद भी है तथापि वह भेद दृष्टिकोण का है । वे एक दूसरे के विरोधी नहीं कहे जा सकते, वे एक दूसरे के पूरक हैं । इनका दृष्टिकोण भेद समझ लेना चाहिए । षट दर्शनों में वास्तव में तीन प्रकार की विचार धाराएँ हैं । ये छओं दर्शन तीन वर्गों में बाँटे जा सकते हैं । न्याय, वैशेषिक, सांख्य-योग और पूर्व और उत्तर मीमांसा । इन युग्मों में एक अनुष्ठापक और दूसरा ज्ञापक कहा जा सकता है । अर्थात् एक का सम्बन्ध साधनों और क्रियाओं से है और दूसरे का सम्बन्ध ज्ञान से । न्याय-वैशेषिक में न्याय ज्ञापक है और वैशेषिक अनुष्ठापक । वैशेषिक–धर्म की व्याख्या के लिये आया, 'अथातो धर्म व्याख्यास्यामः' सांख्य-योग में सांख्य ज्ञापक और योग अनुष्ठापक है । योग में चित्त-वृत्ति के निरोध का साधन बतलाया है । उत्तर मीमांसा ज्ञापक है और पूर्व मीमांसा अनुष्ठापक है । उसका भी उदय धर्म की जिज्ञासा और व्याख्या के लिये हुआ

इन दर्शनों का भेद अधिकारी भेद से भी माना गया है । अधिकारी मानसिक विकास के अनुसार से सूक्ष्म की ओर जाता है। पहली श्रेणी न्याय-वैशेषिक की है, दूसरी श्रेणी सांख्य-योग की तीसरी श्रेणी पूर्व और उत्तर मीमांसा की ।

चार्वाक—इस शब्द की व्युत्पत्ति चारु अर्थात् सुन्दर वाक्य से की जाती है क्योंकि इनके सिद्धान्त साधारण मनुष्य को अच्छे लगते हैं। वे चारु वाक्य के रूप में उसे दिखाई पड़ते हैं। इसके आचार्य हैं देवताओं के गुरु बृहस्पति। ऐसा माना जाता है कि इन्होंने दानवों को धोखा देने के लिये गलत मत का प्रचार किया था। यह बात ठीक नहीं मालूम होती। देवता या ऋषि लोग किसी को धोखा नहीं देते। ये लोग देहात्मवादी हैं। आत्मा को शरीर का ही विकार मानते हैं कुछ-कुछ उसी प्रकार जिस प्रकार महुआ से शराब उत्पन्न होती है—'यावज्जीवेत सुखं जीवेत ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत। भस्मी भूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः' यह इनका मूल मंत्रहै।

बौद्ध दर्शन— बौद्ध धर्म के प्रवर्तक भगवान बुद्ध थे। ये कपिल वस्तु के राजा शुद्धोदन के पुत्र थे। इनका जन्म ईसा० पू० सन् ५६६ के लगभग हुआ था। इन्होंने तप करके गया में बुद्धत्व प्राप्त किया था और प्रथम धर्म चक्र प्रवर्तन सारनाथ में किया था। इन्होंने चार आर्य सत्यों और अष्टांगिक मार्ग का प्रतिपादन किया। इनके धर्म में वैदिक कर्म काण्ड के हिंसावाद की प्रतिक्रिया है। बौद्ध लोग वेद और ईश्वर को नहीं मानतें। ये जाति-पांति के विरुद्ध थे। इनके यहां संघ को विशेष महत्व मिला है। बुद्ध धर्म को स्वीकार करते समय लोग तीन रत्नों की—बुद्ध, धर्म और संघ की शरण में जाते थे। वे कहते थे "बुद्धं शरणं गच्छामि, धर्मं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि।" पूर्ण समता भाव इस की विशेषता है।

बौद्ध दर्शन का भी उदय सांख्य की भांति दुःख की निवृत्ति के लिए हुआ। जिस प्रकार सांख्य का मूल उद्देश्य दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति है उसी प्रकार बुद्ध महाराज के आने का उद्देश्य बतलाया गया है कि उन्होंने दुःख और उसके कारणों और उसके शमन का उपाय बतलाया।

संसार और जीव के सम्बन्ध में बौद्ध लोग किसी शाश्वत आत्मा को

नहीं मानते और न वे चार्वाकों की भांति आत्मा के अस्तित्व को बिलकुल मिटाते ही हैं। जब तक वासना का क्षय नहीं होता तबतक आवागमन का चक्र चलता रहता है। लेकिन जो आत्मा जन्म लेती है वह आगे बढ़ती हुई संस्कारों की परम्परा है। जिस प्रकार दीपक की ज्योति में प्रतिक्षण नए कण आते रहते हैं उसी प्रकार नए संस्कारों का प्रभाव चलता रहता है। बाह्य सत्ता भी इन क्षणिक विज्ञानों के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

इस संसार मे सभी पदार्थ क्षणिक हैं। इन क्षणिक पदार्थों में आधार के सम्बन्ध में बौद्धों के चार सम्प्रदाय हैं—वैभाषिक और सैधानिक को वाह्यधार मानते हैं और माध्यमिक और योगाचार नहीं मानते। योगाचार वाले शून्यवादी हैं। ये तो दार्शनिक सिद्धान्तों के अनुसार विभाग कहा जाता है। बौद्ध धर्म की अठारह शाखाएं थी। धार्मिक दृष्टि से दो मुख्य शाखाएं थी-हीनयान और महायान। हीनयान का शासन बहुत कठोर था। महायान का शासन कुछ उदार था। हीनयान का ग्रन्थ पाली में है, महायान के संस्कृत में। महायान पर शैव सम्प्रदाय का प्रभाव था।

जैन—जैन मत के प्रवर्तक हैं--भगवान् ऋषभ देव। ये पहले तीर्थंकर हैं। जैन धर्म में चौबीस तीर्थंकर माने गये हैं। महाबीर स्वामी अन्तिम तीर्थंकर थे। वे भगवान बुद्ध के समकालीन थे। जिन आत्माओं को पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाता है और कर्म वन्धन से मुक्त हो जाते है वे तीर्थंकर कहलाते हैं जैन धर्म किसी सृष्टि कर्त्ता ईश्वर को नहीं मानता है। जैनो में दो मुख्य सम्प्रदाय हैं-दिगम्बर और श्वेताम्बर। दिगम्बर मूर्तियां नग्न होती है और श्वेताम्बर वस्त्रों से आच्छादित रहतीं है। जैनों में एक सम्प्रदाय स्थानकवासियों का है। वे मूर्त्ति पूजक नहीं होते, वे साधुओं को विशेष महत्त्व देते हैं। जैन दर्शन में न्याय, वैशेषिक और सांख्य का सा बहुपुरुषवाद है। संसार को सत्य माना गया है। वेदान्त के विपरीत जीव मुक्त होकर व्यक्तित्व को नहीं खो देता है। जैन दर्शनों में आत्मा मुक्त होकर अपना पार्थक्य रखती है। इस प्रकार जैन सिद्धांत अनेकत्व

वादी वेदान्त हैं और पुद्गल को अलग मानने से सांख्य के बहुत निकट आ जाता हैं। फिर भी उसकी विशेषता है। सबसे बड़ी विशेषता अनेकान्तिक दृष्टिकोण की। अर्थात् यह कि एक ही चीज को भिन्न-भिन्नदृष्टिकोण से भिन्न-भिन्न रूप में देख सकते हैं। स्थायित्व की दृष्टि से हम वस्तु को अस्ति कह सकते हैं किन्तु उसके परिवर्तनों की दृष्टि से उसे नास्ति कह सकते हैं। दोनों दृष्टिकोणों को मिलाकर आस्ति नास्ति भी कह सकते हैं। ऐसे सात भंग माने गए हैं। इसी को सप्तभंगी न्याय कहते हैं। लेकिन दृष्टि-कोण या नय अनेक हो सकते हैं। अनेकान्तवाद को भी मानते हुए जैन सिद्धांत अनेकत्व में एकत्व देख सकता है।

जैन धर्म जीव को मिट्टी में मिला हुआ खान के सोने की भांति मानता है। उसको वासनाओं के कारण पुदगल का आस्रव होता रहता है और अधिकाधिक धूल मिलती जाती है। इस आस्त्रव को संवर और निर्जन द्वारा रोक देना और जीव को शुद्ध कर लेना ही परम पुरुषार्थ है। इसके लिए शम-दमादि की आवश्यकता होती है। जैन सिद्धान्त आवागमन को मानते हैं और कारण और तैजस शरीर में भी विश्वास रखते हैं। जैन धर्म सिद्धान्त में समताभाव रखता हुआ भी जाति-पांति को मानता है। अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हुए भी वह हिन्दू जीवन में घुल-मिल गया है।

हमारा भविष्य—भारतीय विचारधारा शुद्ध रूप में अट्ठारहवीं सदी तक चलती रही। नवद्वीप में नव्य-न्याय का उत्तरकालीन विकास इसका प्रमाण है। निश्चल दास आदि के विचार सागर आदि ग्रन्थों में वेदान्तिक विचारधारा प्रवाहित हुई है। आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज ने भी भारतीय विचारधाराओं को अग्रसर करने में योग दिया है। स्वामी विवेकानन्द, रामतीर्थ तथा अरविन्द घोष ने भी अपने भाषणों में भारतीय विचारधारा को बढ़ाया ही है। उनकी मौलिक देन चाहे अधिक न हो किन्तु उन्होंने ज्ञान की ज्योति

को बुझने से बचाए रक्खा है । स्वामी रामतीर्थ ने वेदान्त के व्यावहारिक पक्ष पर अधिक बल दिया है । आजकल के युग में रवीन्द्र नाथ ठाकुर और महात्मा गाँधी ने भारत की विचार धारा को विशेष रूप से प्रभावित किया है । कवीन्द्र रवीन्द्र की रहस्यवाद सम्बन्धी कविताओं में वैष्णव प्रेम पद्धति का एक नए रूप में पुनर्जीवन हुआ है ।

महात्मा गाँधी ने नीति और आचार सम्बन्धी विचारधारा पर अधिक प्रभाव डाला है । उनकी विचारधारा में भारतीय अहिंसा और टाल्सटाय के विचारों का अपूर्व सम्मिश्रण मिलता है । भविष्य में चलकर इन विचारों का यथार्थ मूल्यांकन हो सकेगा । डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन, डॉ० एस. एन. दास गुप्त आदि विद्वानों ने भारतीय विचार धारा का अंग्रेजी भाषा जानने वालों को उनकी ही भाषा में (खग जाने खग ही की भाषा) परिचय कराया है । इसके साथ उन्होंने, अपने विचारों द्वारा भारतीय विचारधारा को कुछ अग्रसर किया है । पाश्चात्य देशों में डॉ० राधाकृष्णन के विचार निरपेक्ष प्रत्ययवाद (Absolute Idealism) के नाम से प्रख्यात हैं ।

अब भारतीय विचारधारा शुद्ध गंग धारा तो नहीं रही है उसमें पश्चिमी विचारधारा का यमुनाजल भी मिल गया है । यह तो इतना दुःख का विषय नहीं है , यह सम्मिश्रण हमारी विचारधारा को अधिक गति प्रदान करेगा । किंतु पाश्चात्य विचारों की बिना समझे-बूझे कोरी नकल करना अवश्य दुःख का विषय है । हमको पश्चिम की विचार-धारा से भी लाभ उठाकर अपनी परम्परा को आगे बढ़ाना चाहिए ।

——:०:——

सम्राट् अगस्टस की विजय पर ईसा पूर्व सन २६ में भारत के कुछ राज्यों ने अपने राजदूत भी भेजे थे । इन राजनीतिक और व्यापारिक सम्पर्कों द्वारा बहुत कुछ सांस्कृतिक आदान-प्रदान भी हुआ । ज्योतिष शास्त्र में दोनों ही देश एक दूसरे के ऋणी हैं । भारतीय ज्योतिष में रोमन सिद्धान्त इस बात का साक्षी है । रोमन सिद्धान्त ज्योतिष के उन पांच सिद्धान्तों में से था जो वाराहमिहिर के समय में प्रचलित थे । इसमें ही यूनानी सिद्धान्त भी शामिल थे । दर्शन और धर्म के सम्बन्ध में रोम वाले हमारे अधिक ऋणी हैं । रोमन कथोलिक पादरियों का ब्रह्मचर्य व्रत, उनकी माला, सन्तों की अस्थि आदि 'धातुओं' की पूजा, शरीर को कष्ट देकर तप की भावना बौद्ध और ब्राह्मण प्रभावों का द्योतक है । रोमन कैथौलिक पादरियों में सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद देने की प्रथा है । यह भी भारतीय प्रभाव है । ईसाइयों का प्रचार कार्य भी बहुत अंश में बौद्धों का ऋणी है ।

यूनान—भारत का यूनान से भी सम्पर्क रहा है । ३२० ईसा पूर्व में सिकन्दर का आक्रमण हुआ था । किन्तु उसका प्रभाव व्यास नदी से आगे न बढ़ सका । यह अवश्य है कि उसके द्वारा हिन्दुस्तान का यूनान से सीधा सम्पर्क हो गया । इससे पूर्व फारिस के द्वारा हिन्दुस्तान का यूनान से सम्पर्क था । सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात उसका राज्य विभक्त हो गया था ।

उसके पश्चात यूनानी सेनापति सेल्यूकस की पुत्री का चन्द्रगुप्त से वैवाहिक सम्बन्ध हुआ था । यूनानी राजाओं में मिनेन्डर (मिलिन्द) का भारत में सबसे अधिक राजनीतिक और धार्मिक प्रभाव रहा । उसका राजनीतिक प्रभाव तो पाटलीपुत्र तक रहा । उसने स्वयं बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया था । आचार्य नागसेन से जो उसका धार्मिक वार्तालाप होता था उसका संग्रह मिलिन्द प्रश्न नाम की पुस्तक में है ।

यूनानी सम्पर्क यद्यपि अल्पकालीन रहा तथापि सांस्कृतिक आदान-प्रदान की दृष्टि से बहुत महत्व का रहा । भारत ने जितना लिया उससे अधिक उसे दिया

पाईथेगोरस पर भारत का स्पष्ट प्रभाव था। यहां पर वेवर के दर्शन शास्त्र के इतिहास से एक उद्धरण देते हैं:–

"Dualism, Pessimism, metampsychosis, celebacy, a common life according to rigorous rules, frequent self examinations, meditations, devotions, prohibitions against bloody sacrifices and animal nourishment, kindliness towards all men, truthfulness, fidelity, justice, all these elements are common to both. The fact that most ancient authors and above all Aristotle himself have comparitively little to say concerning the person and life of Pythagorus, would tend to confirm the hypothesis of the identity of Pythagoreanism and Budhism."

History of Pherrsophy by Alfred Weber translated by Frank Thelly Page 38 *foot note.*

अर्थात "द्वैतवाद, निराशावाद, जन्मान्तरवाद, (आवागमन) ब्रह्मचर्य कठोर नियमों के अनूकूल सम्मिलित जीवन, थोड़े-थोड़े समय पश्चात आत्म परीक्षा, ध्यान भक्ति, पशुबलि और पशु आहार का निषेध सब मनुष्यों के प्रति मैत्रीभाव, सत्य वफादारी, न्याय, ये सब तत्व पैथोगोरसवाद तथा बौद्ध धर्म में सम्मिलित हैं। यह बात कि प्राचीन लेखकों ने और विशेषकर अरस्तू ने पैथेगोरस के व्यक्तित्व और जीवन के बारे में बहुत कम लिखा है जो इस कल्पना को पुष्ट करती है कि पैथगोरसवाद और बौद्ध धर्म का तादात्म्य है।

नव प्लेटोवाद (Neo Platonism) तथा ज्ञान वाद (Gnosticism) पर भारत का प्रभाव है। यूनानी कहानियाँ पञ्चतन्त्र से प्रभावित थीं। यूनान का गांधार कला पर अवश्य प्रभाव पड़ा है। किन्तु अन्य

बातों पर वहाँ का प्रभाव नगण्य सा है। हिन्दुओं ने न उनके देवी-देवताओं को अपनाया और न उनके दर्शन और साहित्य को। नाटकों पर जो लोग 'यवनिका' शब्द के आधार पर यूनानी प्रभाव बतलाते हैं वे कई तथ्यों को भूल जाते हैं। पहले तो यह कि यूनानियों के नाटकगृह अर्द्ध गोलाकार और खुले होते थे। हिन्दुओं के नाट्य गृह चतुष्कोण या त्रिकोण होते थे। यूनानी नाटकों का विभाजन अंक आदि में नहीं होता था। हमारे यहाँ अंक विभाजन भी होता था। यूनानी नाटक प्रायः दुःखान्त होते थे। हमारे यहां दुःखान्त नाटकों का एकदम निषेध है। अन्तिम बात यह है कि यवनिका जैसी कोई बस्तु यूनानी नाटकों में नहीं होती थी। इसके विपरीत यूनान के आए हुए राजदूतों ने हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म स्वीकार किया था। हेलियोडोरस ने बैसनगर में गरुड़ध्वज स्थापित किया था। हमारे यहाँ की ज्योतिष पर भी थोड़ा बहुत प्रभाव पड़ा। कुछ विद्वान होराचक्र को इस बात का द्योतक मानते हैं किन्तु यह बात निर्विवाद नहीं है। (होरा यूनान में ऋतु और समय को कहते हैं) रोमन सिद्धान्त में भी यूनानी ज्योतिष है। लेकिन वह एक प्रचलित सिद्धान्त के रूप में है। सर्वमान्य सिद्धान्त के रूप में नहीं। विद्वानों को सब सिद्धान्त जानना आवश्यक होता है।

मध्य एशिया:— यूरोप की अपेक्षा एशिया पर भारत का प्रभाव अधिक पड़ा। यह प्रभाव दो प्रकार के थे, कुछ तो उन देशों पर जो सभ्य थे ही, जैसे चीन आदि उनको नए विचार देने का और कुछ प्रभाव तुरकिस्तान जैसे बरबर देशों में भी धर्म और दया के प्रचार के थे। येतलवार की धारके सहारे प्रवाहित नहीं हुए वरन वे, विजित, अधिकृत वा प्रभावित जातियों के स्वच्छापूर्ण स्वीकृति द्वारा डाले गए। मध्य एशिया की खुदाइयों में अनेकों बौद्ध स्तूपों और मठों के अवशेष जो प्रायः २०००वर्ष पुराने है बुद्ध मूर्तियां तथा गणेश,कुबेर आदि ब्राह्मण धर्म से सम्बन्धित देवताओं और आख्यानों की मूर्तियां और आलेखन मिले हैं। ये बौद्ध और हिन्दू प्रभावों के द्योतक हैं। सातवी शताब्दी ईसा पश्चात जब ह्वेनसांग मध्य एशिया में होकर गुजरा था तब उसने वहाँ बौद्ध धर्म का प्रचार पाया था।

लंका:—इसका दूसरा नाम ताम्रपर्णी है। बौद्ध धर्म का प्रारम्भिक प्रचार कार्य यहीं से आरंभ हुआ था। वहाँ के राजा तिष्य से अशोक के राजकुमार महेन्द्र मिले और फिर उन्होंने बौद्ध धर्म की शरण ली। पीछे महेन्द्र और उसकी छोटी बहन बोधि वृक्ष की शाखा अनुराधपुर लाए। लंका कुछ काल तक तामिल राजाओं के भी आधीन रही। अब वहां बौद्ध हिन्दू और ईसाई तीनों धर्म के अनुयायी हैं बहुत से हिन्दू मन्दिर भी हैं।

चीन—चीन में बौद्ध धर्म के प्रचारके सम्बन्ध में ऐसी अनुश्रुति है कि सन् ६५ई में सम्राट मिडमिङ्ली ने स्वप्न देखा कि बुद्ध भगवान ने उसे आदेश दिया है कि अपने राज्य में भारत से बौद्ध ग्रन्थ और मूर्तियां मंगवावे। इस स्वप्न से प्रेरणा ग्रहण कर सम्राट ने अठारह व्यक्तियों का दूत-मंडल भारत भेजा। वे लोग कुछ दिन भारत ठहरकर लौटते हुए बहुतसे बौद्ध ग्रंथ और काश्यप मातंग और धर्मरक्ष नाम के दो भिक्षुओं को अपने साथ चीन ले गये। मातंग को गुरू बनाकर राजा बौद्ध धर्म में दीक्षित हुआ। दोनों भिक्षुओं ने चीन में निवास कर बहुत से संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद किया। पाँचवी शताब्दी तक भारत से पंडितों का आवागमन होता रहा और सैकड़ों ग्रन्थों का अनुवाद हुआ।

पांचवीं शताब्दी में कुमारजीव ने चीन में रहकर चीनी भाषा में इतनी दक्षता प्राप्त करली थी कि उसकी भाषा ह्वेनसांङ्ग की भाषा से भी अच्छी समझी जाने लगी। एक हजार वर्ष तक यह सम्बन्ध थोड़े बहुत विराम और विच्छेद के साथ चलता रहा। ७३३ ईसवी में धर्म देव ने चीन में अनुवादकों का एक संघ स्थापित किया।

इन अनुवादों द्वारा चीनी साहित्य ही प्रभावित नहीं हुआ वरन् वहाँ के विद्वानों ने जो भारत के स्थापत्य को देखकर लौटे अपने देश के मन्दिरों और पगोडाओं में भारतीय आदर्शों का समावेश कराया। शान्सी में तातुङ्गफू और होन में लुंग मैन के मन्दिरों में गुप्तकालीन प्रभाव है। चीन से बहुत से यात्री जैसे फाहियान,

ह्वानसांग आदि भारत आते रहे, उनसे हमको तत्कालीन भारत का बहुत कुछ विवरण मिलता है। ह्वानसांग ने नालंदा विश्वविद्यालय में ५ वर्ष रहकर हिन्दू और बौद्ध धर्म ग्रन्थों का अध्ययन किया था। सन् ६४१ में सम्राट हर्षवर्धन ने एक दूत मंडल भेजा था। उसके प्रत्युत्तर में चीन से जो दूत मंडल आया उससे पहले ही हर्षवर्धन की मृत्यु हो चुकी थी। आठवी शताब्दी में चीनी विद्वानों ने हिन्दू ज्योतिष पर और भारतीय पञ्चाङ्ग के आधार पर अपना तिथिक्रम निश्चित किया।

चीन में बौद्ध धर्म का इतना प्रचार बढ़ा कि उसने अपने प्रचारक कोरिया भेजे और वहाँ के लोग भी त्रिरत्न की शरण में आ गए। कोरिया की वर्णमाला अब भी भारतीय है। छठी शताब्दी के अन्त तक कुछ विरोध होते हुए भी जापान में बौद्ध धर्म ने प्रवेश कर लिया था और वहाँ की कला और साहित्य को प्रभावित करने लगा। जापान का थोतुकु बौद्ध धर्म का बड़ा अभिभावक हुआ था उसने सन् ६०७ ई० में चीन में एक राजदूत मंडल भेजा था। उसके साथ बहुत से जापानी विद्यार्थी भी चीन गए थे। उन्होंने लौटकर प्रचार कार्य में योग दिया। शोतुकुमारन के सम्राट अशोक के समान बड़ा उदार और धर्मात्मा था।

तिब्बत:– तिब्बत में वहाँ की अशिक्षा के कारण बौद्ध धर्म कुछ पीछे पहुंचा। भारत की ओर से तिब्बत में बौद्ध धर्म के प्रचार के प्रयत्न चौथी शताब्दी से आरम्भ हो गये थे। सन ६२९ में स्रोङ् सेन गंपी तिब्बत का राजा बना। इसने सन् ६३२ में तान् संवोता को १६ व्यक्तियों के साथ भारतीय भाषा सीखने तथा यहाँ से बौद्ध ग्रन्थ लाने के लिये भेजा। वे लोग अठारह वर्ष भारत रहकर तिब्बत लौटे। ६४१ ई० में सैनगंपो ने चीनी राजकुमारी से विवाह किया। उसके सम्पर्क में आने से राजा ने बौद्ध धर्म स्वीकार किया।

आठवी शताब्दी में आचार्य शान्ति रक्षित पद्मसम्भव तिब्बत गए। ११वी शताब्दी में तिब्बत में बौद्ध धर्म का सूर्य पूर्ण ऊंचाई पर पहुंच चुका था। वहां

अनेकों विहार और मठ बने और असंख्य संस्कृत ग्रन्थों का तिब्बती भाषा में अनुवाद हुआ। जो ग्रन्थ अब भारत में अप्राप्य हैं उनका तिब्बती रूपान्तर वहां अब भी मिलता है। राहुल सांकृत्यायन तिब्बत से ऐसे ग्रन्थ लाए हैं और उनमें से एक का (प्रमाणवार्तिक का) उन्होंने पुनः रूपान्तर भी किया है।

बर्मा:– यद्यपि अशोक के समय से प्रचारक लोग बर्मा जाने लगे थे और समुद्र मार्ग से दक्षिण के राज्यों से व्यापारिक सम्बन्ध थे तथापि वास्तव रूप से बौद्ध धर्म (हीनयान) की स्थापना सिंहाली पण्डित बुद्धघोष द्वारा सन ४५० ई० में हुई। ग्यारहवीं शताब्दी में चोल राजा राजेन्द्र प्रथम ने बर्मा को जीत कर अपना राज्य स्थापित कर लिया था। इसी कारण वहाँ बौद्ध और हिन्दू प्रभाव दोनों ही रहे और गुप्त काल के बहुत से अवशेष मिलते हैं।

स्याम:– में महायान धर्म की प्रधानता रही। बौद्ध और हिन्दू शास्त्रों न वहाँ भी संस्कृति को काफी प्रभावित किया। आजकल भी राजाओं के नाम हिन्दू होते हैं और उनके आगे राम शब्द लगा रहता है। बौद्ध धर्म का प्रचार होते हुए वहाँ हिन्दू-प्रभावों का अभाव नहीं है।

हिन्द-चीन:– यहाँ हिन्दुओं के दो बड़े उपनिवेश थे कम्बोदिया (इसका संस्कृत नाम कम्बुज है) और चम्पा जिसको आजकल हिन्द चीन कहते हैं। उसको चीनी लोग फू नाम कहते हैं। जनश्रुति के अनुसार दक्षिणभारत के कौडिन्य नाम के ब्राह्मण ने इस राज्य की स्थापना की थी। उसने यहाँ आकर एक नाग कन्या से विवाह कर लिया था। वहाँ के लोगों ने हिन्दू रीति रिवाज़ स्वीकार कर लिए थे। चीनी ग्रन्थों से पता चलता है कि एक दूसरे कौडिन्य ने जिसका नाम जयवर्मन भी था सन १४८४ में शाक्य नागसेन नाम के एक भिक्षु को चीन भेजा था वहाँ पर बौद्ध और वैष्णव दोनों प्रभावों के अभिलेख मिलते हैं। सूर्य वर्मन का बनवाया हुआ अंकोरवट नाम का मन्दिर बहुत प्रसिद्ध है और उसका स्थापत्य जो भारतीय स्थापत्य से प्रभावित है दर्शनीय है। कम्बुज में शैव और वैष्णव धर्म

की प्रधानता रही है। वहाँ के राजा लोग महाहोम, लक्षहोम, कोटि होम आदि यज्ञ करते थे। संस्कृत अभिलेखों का प्राचुर्य इस बात का द्योतक है कि वहाँ संस्कृत का प्राधान्य था। वहाँ रामायण, महाभारत आदि का अखंड पाठ होता था।

चम्पा :– चम्पा दूसरी शताब्दी तक हिन्दू उपनिवेश बन चुका था इस राज्य के संस्थापक का नाम श्रीमार था। ३८० ई में भद्र वर्मा सिंहासनारूढ़ हुआ। इसके अभिलेखों से ज्ञात होता है कि यह वेदों का पंडित था। चम्पा का प्रधान धर्म शैव था। यहाँ हिन्दू वर्ण व्यवस्था प्रचलित थी और हिन्दू रीति से विवाह होते थे। जब कम्बुज और चम्पा की आपस की लड़ाइयों के कारण चम्पा अनामियों के हाथ आ गया तब से बौद्ध प्रभावों का प्राधान्य हो गया।

मलाया द्वीप समूह:– इसम जावा, सुमात्रा, वाली और वोर्नियों के हिन्दू उपनिवेश थे। सुमात्रा का प्राचीन नाम श्री विजय था। चौथी शताव्दी तक यह भारतीय आवास बन चुका था। जावा का नाम जव द्वीप था। इसका उल्लेख वाल्मीकीय रामायण में "यत्नवन्तो यव द्वीप सप्तराज्योपशोभितम्।" (किष्किन्धा काण्ड ३०) करके आया है। सुग्रीव ने यहाँ भी अपने वानर खोज करने भेज थे। यहाँ पर सबसे पहिले कलिङ्ग वासियों ने अपना उपनिवेश बनाया था साँतवी शताब्दी के आरम्भ में सौराष्ट्रों का एक बड़ा दल वहाँ पहुंचा। जावा में भी बौद्ध धर्म का प्रभाव हो गया था। जावा की एक बौद्ध मूर्ति का चित्र सामने के पृष्ठ पर दखिए। बालि और बोर्नियों में हिन्दू संस्कृति के अनकों अवशिष्ठ चिन्ह मिलते हैं। बोर्नियों में चौथी शताब्दी में हिन्दू राज्य की स्थापना हो चुकी थी। वहाँ शिव गणेश, नान्दी आदि की मूर्तियाँ हिन्दू प्रभाव की परिचायक हैं।

ये सब प्राचीन चिन्ह इस बात के परिचायक हैं कि हिन्दू लोग प्राचीन काल में बड़े साहसी थे और उनकी शक्ति शीलसमन्वित थी। उन्होंने बल की अपेक्षा प्रेम से अधिक काम लिया।

प्राचीन भारत में वैज्ञानिक उन्नति

ज्योतिष:– प्राचीन काल में भारत ने आध्यात्मिक उन्नति तो की ही थी किन्तु विज्ञान में भी और देशों का अगुआ रहा था। हमारा देश धर्म-प्रधान अवश्य रहा है किन्तु हमारे यहाँ के धर्म में लौकिक अभ्युदय और निश्रेयस (आध्यात्मिक उन्नति की चरम सीमा) दोनों ही सम्मिलित थे। अधिकांश विज्ञानों का धर्म के साथ ही विकास हुआ। ज्योतिष को तो वेदाङ्ग ही माना गया है। शिक्षा और निरुक्त में भाषा विज्ञान के ध्वनि और अर्थ सम्बन्धी ऊँचे से ऊँचे सिद्धान्तों की खोज हुई। इन शास्त्रों का वेदों के उच्चारण और अर्थ से सम्बन्ध था। यज्ञ की वेदियों के बनाने में शुल्व सूत्रों द्वारा रेखागणित या ज्यामिति आदि का विकास हुआ। पाइथेगोरस (Pythagoras) को इस सिद्धान्त का आविष्कर्त्ता माना जाता है कि समकोण त्रिभुज के सामने वाली भुजा पर का वर्ग शेष दो भुजाओं पर के योग के बराबर होता है। यह सिद्धान्त ईसा से प्राय: ८०० वर्ष पूर्व हमारे यहाँ के आचार्य बोधायन को ज्ञात था किन्तु इसका श्रेय पाइथोगोरस को ही दिया जाता है। यज्ञों को कालाधीन बतलाया गया है 'कालानुपूर्वा विहिताश्चयज्ञा:' यज्ञों के समय निश्चित करने के लिए यह जानना आवश्यक होजाता था कि दिन रात्रि कब बराबर होते हैं। वैदिक मास गणना सूर्य और चन्द्र दोनों से होती थी। महीनों के सौर नाम भी थे और चन्द्र नाम भी, जैसे माघ का नाम तपस, चैत्र का नाम मधु वैशाख का नाम माधव था। अधिक मास द्वारा वे इन मासों की संगति बैठालना भी जानते थे। यज्ञों का ऋतुओं से भी सम्बन्ध रहता था, जैसे ज्योतिष्ठोम वसन्त ऋतु में होता था और वाजपेय यज्ञ ग्रीष्म ऋतु में। इन ऋतुओं का सम्बन्ध महीनों और नक्षत्रों से था। वे नक्षत्रों को पहिचानते थे और उनका उन्होंने नामकरण भी कर लिया था। वैदिक ऋषि यह भी जानते थे कि जमीन गोल है और सूर्य की शक्ति से अन्तरिक्ष में डटी हुई है। वे लोग बारह राशियों और सूर्य के उत्तरायण दक्षिणायन होने की बात भी जानते थे। प्राचीन ज्योतिषाचार्यों में गर्ग, पाराशर

ऋषि पुत्र, काश्यप और देवल (जिनका श्रीमद्भगवगीता में महर्षि व्यास के साथ उल्लेख हुआ है) आदि के नाम प्रसिद्ध है ।

महाभारत में पाण्डवों के बारह वर्ष के अज्ञात वास के काल निर्णय में कई प्रकार के वर्षो का उल्लेख हुआ हैऔर प्रसंगवश ज्योतिष के सिद्धान्तों पर भी प्रकाश डाला गया है । मनुस्मृति आदि में भी ज्योतिष का वर्णन है । सूर्य सिद्धान्त का उल्लेख वाराहमिहिर ने ५०५ ई में अपनी पञ्च सिद्धान्तिका में किया है किन्तु वह उपलब्ध नही । आज कल जो सूर्य सिद्धान्त के नाम से प्रसिद्ध है वह उससे भिन्न है । चला पृथ्वि स्थिता भांति आर्य भट्ट का जन्म ४७६ ई में हुआ था । इन्होंने ज्योतिष को पूर्ण वैज्ञानिक धरातल पर प्रतिष्ठित कर दिया था ।आर्य भट्ट पृथ्वी को चल मानते थे ।

आर्य भटीय का ८ वी शताब्दी में अरबी में अनुवाद 'अर्जवहर'नाम से हुआ था । यहां की वर्त्तमान कालीन वैज्ञानिक कल्पना से वे परिचित थे ।

वाराहमिहिर जिनका हम पहले उल्लेख कर चुके हैं कुछ लोग कालिदास के साथ ईसा पूर्व पहली शताब्दी का मानते हैं क्योंकि वे विक्रमादित्य के नव रत्नों में गिनाये गये हैं । बारह रत्नों के नाम इस प्रकार है:-

धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंह शंकुवेताल कटकर्पर कालिदासाः ।
वराहमिहिरो नृपतेः समायाः रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य ।।

किन्तु वाराह मिहिर ने आर्यभट का नाम उल्लेख किया है । इस आधार पर उनको आर्यभट से पीछे का मानना अधिक तर्कसम्मत होगा । यह बात भी सम्भव हो सकती है कि आर्य भट जिनका वाराहमिहर ने उल्लेख किया है कोई दूसरे हों । आर्यभट जिनका वाराहमिहिर ने अपनी पंच सिद्धान्तिका में जिन पांच सिद्धान्तों का विवरण दिया है वे इस प्रकार है-पुलिश, रोमक, वशिष्ट, सौर (सूर्य) और पितामह । रोमन सिद्धान्त के सम्बन्ध में विद्वानों का

विचार है कि इसमें यूनानी या रोमन सिद्धान्तों का वर्णन है। सभ्य देशों में सभी देशों के ज्ञान से जानकारी रखने का प्रयत्न होता है। सम्भव है यह भी ऐसा ही प्रयत्न हो। बाराहमिहिर को पुच्छल तारों का भी हाल मालूम था।

वाराहमिहिर के पश्चात ब्रह्म गुप्त और लल्ल का नाम आता है। ब्रह्म-गुप्त ने लगभग ब्राह्म स्फुट सिद्धान्त और खण्डखाद्य लिखे। उन्होंने तथा उनसे कुछ वर्ष पीछे होने वाले आचार्य लल्ल ने आर्य भट के भू-भ्रमण सिद्धान्त का खण्डन किया है। वास्तव बात यह थी कि आर्यभट अपने समय में बहुत आगे थे। सहज में जनता उनको नहीं स्वीकार कर सकती थी। लल्ल सिद्धान्त में भू-भ्रमण के विरुद्ध ऐसी ही युक्तियां दी गई हैं जैसी कि आजकल के बेपढ़े लोग देते है- जैसै कि अगर पृथ्वी घूमती है तो घोसले से उड़ा हुआ कबूतर क्यों घोसले में वापिस आ जाता है? इसका तो सहज उत्तर यह था कि न तो पृथ्वी का वातावरण पृथ्वी से अलग है और न घोसला ही अलग है।

बारहवी शताब्दी में (१११४) महेश्वर के पुत्र भास्कराचार्य ने सिद्धान्त शिरोमणि, ग्रह गणित, ग्रहलाघव, सूर्य सिद्धान्त व्याख्या, भास्कर दीक्षिती आदि कई ज्योतिष के ग्रन्थ लिखे और आर्य भट के सिद्धान्तों की पुनः स्थापना की। सिद्धान्त शिरोमणि में चार भाग हैः—लीलावती, (भास्कराचार्य की पुत्री को गणित में बहुत रुचि थी उसी के नाम पर इस अध्याय का नामकरण हुआ) बीज गणित, ग्रहगणिताध्याय और गोलाध्याय। भास्कराचार्य ने इस बात की व्याख्या की है कि पृथ्वी गोल होते हुए भी चपटी क्यों दिखाई देती है। मनुष्य पृथ्वी की परिधि का एक छोटा सा भाग देखता है। इस लिए वह उसे चलते दिखाई देता है। भास्कराचार्य को पृथ्वी के आकर्षण का नियम, जिसकी खोज का श्रेय न्यूटन को दिया जाता है सैकड़ों वर्ष पहिले मालूम था।

आकृष्टशक्तिश्च महीतया यत् स्वस्थं गुरुस्वाभिमुखं स्वशक्त्या।
आकृष्यते तत् पततीव भांति समे समन्तात् त्वं पतत्वियंरवे॥

अर्थात् पृथ्वी अपनी आकर्षण शक्ति के बल से सब वस्तुओं को अपनी ओर खीचती हैं। इसलिए सब पदार्थ उसकी ओर गिरते हुए दिखाई पड़ते हैं-आकाश में नहीं गिरते। प्रोफेसर विलसन भारतीयों के ज्योतिष ज्ञान के सम्बन्ध में लिखते हैं:-

'भारत में मिलने वाली क्रान्ति वृत्त का विभाग, सौर और चान्द्रमासों का निरूपण ग्रहगति का निर्णय, अयनांश का विचार, सौर राशि मंडल, पृथ्वी की निराधार अपनी शक्ति से स्थिति, पृथ्वी की अपने अक्ष पर दैनिक गति, चन्द्र भ्रमण और पृथ्वी से उसका अन्तर, ग्रहों की कक्षा का मान तथा ग्रहण का गणित आदि ऐसी बातें हैं जो अशिक्षित जातियों में नहीं पाई जाती हैं।'

ओझा जी की मध्य कालीन भारतीय संस्कृति नाम की पुस्तक के पृष्ठ ८४ पर दिया हुआ एक उद्धरण।

अठारहवीं शताब्दी में जयपुर के सवाई महाराजा जयसिंह ने जयपुर में वेधशालाएँ बनवाईं। नई दिल्ली का यंत्र मन्दिर (जन्तर मन्तर) उन्हीं का बनवाया हुआ है। इन वेधशालाओं के बनवाने में पाश्चात्य देशों की खोज की भी सहायता ली गई थी। उन्नीसवी शताब्दी में बापू देव शास्त्री तथा सुधाकर द्विवेदी ने पुरानी शैलियों के साथ नई शैलियों का भी सम्मिश्रण किया।

गणित शास्त्र:- गणित शास्त्र का ज्योतिष से विशेष सम्बन्ध रहा है। जैसा हम पहले कह चुके है वेदियों के निर्माण के सम्बन्ध में रेखागणित के सिद्धान्तों का विकास हुआ। भारत ही बीज-गणित का आविष्कर्ता है। अंकों की गणना का प्रचार यहीं से हुआ। पहले लोग शून्य भी नहीं जानते थे। १०, २०, ३०, १०० तक के लिए पृथक्-पृथक् संख्या चिन्ह थे जैसै रोमन अंकों में है। दस के लिये X पचास के लिये L सौ के लिये C। हमारे यहां भी प्राचीन शिलालेखों में ऐसे गणना चिन्ह मिलते हैं। भारतवासियों ने १ पर शून्य लगाकर १० तथा १ पर १ लिख कर ११ लिखने तथा इसी प्रकार दहाई सैकड़ा आदि की दश गुणोत्तर रीति निकाली। योग सूत्र के व्यास भाष्य में जो ईसवी सन् ३०० के लगभग

रचा गया दशगुणोतर अंक-क्रम का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। पहले हीब्रू, यूनानी, अरब आदि वर्णमाला के अक्षरों से संख्या का काम लेते थे। खलीफा वलीद के समय (ई० स ७०५-७१५) तक अंकों का प्रचार नहीं था। इसके पश्चात अरबों ने भारतवर्ष से ये अंक लिये, तभी तो ये हिन्दसे कहलाते हैं। यह शब्द ही हिन्द का ऋण स्वीकार करता है। फिर ये अरब द्वारा यूरोप में गये, तभी से Arabic Figures कहलाते हैं। उन्होंने अरब का ऋण स्वीकार किया और अरबों ने हमारा। इन अङ्कों का प्रवेश एक भारतीय राजदूत द्वारा सन् ७७३ में बगदाद में हुआ। वहाँसे अरब में फैला। प्राचीन रोमन- दस हजार तक की गिनती जानते थे, अरब लोग १००० तक ही जानते थे। इस सम्बन्ध में अलबेरूनी लिखता है—'जिन भिन्न-भिन्न जातियों से मेरा सम्पर्क रहा, उन सबकी भाषाओं में संख्या सूचक चक्र के नामों (इकाई, दहाई, सैकडा आदि) का मैंने अध्ययन किया है जिससे मालूम हुआ कोई जाति एक हजार से आगे नहीं जानती। अरब लोग भी एक हजार तक (नाम) जानते है.......अपने अङ्क क्रम मे, जों हजार से अधिक जानते वे हिन्दू हैं..........वे संख्या सूचक क्रम को अठारहवे स्थान तक ले जाते हैं जिसको परार्द्ध कहते हैं'। १०० के दश गुणन के हमारे यहाँ अलग-अलग नाम थे जैसै सहस्र, अयुत, नियुत, प्रयुत, कोटि, अर्बुद न्यर्बुद, समुद्र, मध्य अन्त, परार्द्ध। वाल्मीकीय रामायण में सुग्रीव के सेनापतियों की सेनाओं की संख्या के वर्णन में इन संख्याओं का व्यावहारिक प्रयोग हुआ है। अर्बुद की संख्या के आगे का श्लोक देखिए:—

अर्बुदैरर्बुदशतैर्मध्यैश्चान्त्यैश्च वानरा: ।
समुद्राश्च परार्द्धाश्च हरयो हरियूथपा: ।। वा. रा. कि का ३८।३१

अर्थात अरब (हजार शङ्ख का एक अरब) सौ अरब का एक मध्य तथा अन्त वाले तथा समुद्र वाले और परार्द्ध वाले वानर यूथों के यूथप या सेनापति थे।

बीज गणित को अंग्रेजी में ऐलजेब्रा कहते हैं। जिन शब्दों में अल लगा होता

है वे प्रायः अरबी के होते हैं। यूरोपीय विद्वान बीजगणित के सम्बन्ध में भारत का ऋण स्वीकार करते हैं:—

'During the Eighth and Ninth centuries the Indians became the teachers of Arithmatic and Algebra of the Arabs and through them, of the nations of the west. Thus though we call the latter Science by an Arabic name it is a gift we owe to India'.

अर्थात आठवीं नवीं शताब्दी में हिन्दुस्थानी लोग अरबी लोगों के अङ्क गणित बीज गणित के शिक्षक बने और उनके द्वारा पश्चिमी जातियों के। इस प्रकार यद्यपि हम उस विज्ञान को अरबी नाम से पुकारते हैं तथापि यह हमको भारतीयों की देन है। हम उनके ऋणी हैं।

भारतीयों को त्रिकोणमिति (Trignomatory) का भी अच्छा ज्ञान था। वे इस ज्ञान का प्रयोग ज्योतिष की गणना से करते थे।

आयुर्वेद—आयुर्वेद अथर्ववेद का उपवेद माना गया है। हमारे यहाँ प्राचीन काल के वैद्यों में धन्वन्तरि और अश्वनीकुमार प्रमुख माने गये हैं। धन्वन्तरि तो समुद्र से निकले हुए चौदह रत्नों में से माने जाते हैं। अगस्त्य के पुरोहित खेल ऋषि की स्त्री विश्पला अपने पति के साथ युद्ध में गई थी, वहाँ उसकी जंघा टूट गई थी। अश्विनीकुमार ने विश्पला की जांघ ठीक की थी। अश्विनी कुमार देवताओं के वैद्य थे, उनके सम्बन्ध में कई पौराणिक कथाएँ है। वैदिक शास्त्र के सब से पुराने और प्रामाणिक ग्रन्थ जो आजकल वर्तमान है वे चरक और सुश्रुत संहिताएँ हैं। चरक कनिष्क के समकालीन माने जाते हैं। चरक सुश्रुत की अपेक्षा प्राचीनतर है। डाक्टर प्रफुल्ल चन्द्र राय की सम्मति में चरक संहिता किसी वृहत आयुर्वेदिक सन्मेलन की कार्यवाही का अङ्कन सी जचती है। सुश्रुत अधिक सुव्यवस्थित और वैज्ञानिक है।

आज कल जो चरक का ग्रंथ वर्तमान है वह दृढ़बलकृत चरक संहिता का दूसरा संस्करण है। पूर्व नन्द युग में तक्षशिला आयुर्वेद शास्त्र का एक प्रसिद्ध केन्द्र था। पाली साहित्य में जीवक का वृतान्त मिलता है। वह तक्षशिला आयुर्वेद सीखने गया था और सात वर्ष तक वहाँ शिक्षा पाई थी। उसको जीवक कुमार भच्च कहते हैं क्योंकि बच्चों की चिकित्सा में कुशल था। सुश्रुत धन्वन्तरि के शिष्य थे। इनके अतिरिक्त भेड़, हारीत, पराशर, काश्यप आदि अन्य आचार्य भी प्रसिद्ध है। बौद्ध आचार्य नागार्जुन आयुर्वेद शास्त्र के प्रकाण्ड पंडित थे। सुश्रुत का वर्तमान संस्करण उन्हीं के द्वारा सम्पादित हुआ था। उनका उल्लेख अरबी विद्वान अलबरूनी ने भी किया है।

आयुर्वेद साहित्य में चरक सुश्रुत के पश्चात तीसरा स्थान वागभट्ट के अष्टांग-हृदय का है। यह छठी शताब्दी ईसवी के अन्तिम भाग की रचना है। प्राचीन आयुर्वेदाचार्यों ने चिकित्सा शास्त्र के सभी अंगों की विधिवत् खोज की थी। रोग के निदान को वे नाड़ी द्वारा तथा रोगी से प्रश्नोत्तर पश्चात करते थे। रोग के कारणों के अनुकूल ही वे चिकित्सा करते थे। उनको शरीर शास्त्र और शरीर के विभिन्न आन्तरिक अवयवों का पूरा पूरा ज्ञान था। इस ज्ञान के लिये वे शवों की चीड़-फाड़ भी करते थे। सुश्रुत के शरीर स्थान अध्याय में बतलाया गया है कि शल्य के यथार्थ ज्ञान के लिये शव को विधिवत् तैयार करके उसकी चीर फाड़ द्वारा प्रत्येक अंग से परिचय प्राप्त करना आवश्यक है।

योरोप में सर विलियम हार्वे द्वारा (Sir William Harvey) रक्त संचरण की खोज के बहुत काल पहले यह ज्ञान बड़े स्पष्ट शब्दों में चरक संहिता में दिया गया है। उसमें बताया गया है कि हृदय से नाड़ियों द्वारा रक्त प्रवाहित होकर शरीर के सब अंगों को पहुँचता है। रुधिर द्वारा सब मनुष्यों और जानवरों का पोषण होता है। वे लोग यह भी जानते थे कि गर्भ की प्रारंभिक अवस्था में माता के

के हृदय से सीधा उसके (गर्भ) पोषण के लिये जाता और फिर वहीं लौटकर आ जाता है। वह यह भी जानते थे कि गर्भ के तीसरे चौथे महीने बच्चे का हृदय स्वतंत्र रूप से काम करने लगता है, उस अवस्था को वे दोहद (द्वि-हृदय) कहते थे। शिराओं और धमनियों का उन्हें पूरा-पूरा ज्ञान था। हड्डियों की भी उन्हों ने गिनती की थी और बहुत से अङ्गों के सम्बन्ध में वह आज कल की गणना से मिलती है। याज्ञवल्क्य-स्मृति में भी हड्डियों की संख्या दी है। ज्ञान-तंतुओं का केन्द्र पहले हमारे यहाँ हृदय ही माना जाता था किन्तु इस सम्बन्ध में यूनान के लोगों ने भी कोई प्रगति नहीं की थी। अरस्तू ने भी हृदय को ही ज्ञान का कन्द्र माना है। हठ योगियों ने मेरु-दण्ड और मस्तिष्क के सम्बन्ध में बहुत कुछ जानकारी प्राप्त की थी।

शल्य विज्ञान से सम्बन्धित जो यंत्र बनाये गए थे वे आजकल के यन्त्रों से बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं।[1] सुश्रुत ने चिकित्सा में प्रयोग आनेवाले यन्त्रों की संख्या १०१ मानी है और वाग्भट्ट ने ११५ मानकर लिख दिया है कि वैद्य आवश्यकता के अनुसार और यन्त्र बनवा सकता है। शस्त्रों के लिये लकड़ी के शस्त्र कोशों (Cases) का भी उल्लेख आता है। वे लोग यद्यपि क्लोरोफार्म जैसी चीज़ नहीं जानते थे तथापि सुश्रुत में शल्य क्रिया के पूर्व नशे द्वारा रोगी को बेहोश करने की बात आती है। बड़े-बड़े शल्य प्रयोग भी जैसे, पेट को चीर कर आँतों को ठीक करना, पथरी निकालना, शल्य क्रिया से बच्चे पेट से निकालना (इसके लिये विशेष यन्त्र होता था जिसे प्रजनन शंकु कहते थे) आदि भी किए जाते थे।

[1] श्रीयुत् वेवर अपनी Indian Literature पृष्ठ २७० पर लिखते हैं-आज भी पाश्चात्य विद्वान भारतीय चिकित्सा से बहुत कुछ सीख सकते हैं, जैसे कि उन्होंने कटी हुई नाक को जोड़ने की विधि भारतीयों से सीखी।

आयुर्वेद के अधीन ही भारतीय रसायन शास्त्र का विकास हुआ था। सुश्रुत में पारद, संखिया, अंजनक Antimony के समासों (Compounds)

का प्रयोग रोगों के उपचार में किया था। योरोप में इनका प्रचार बहुत पीछे से हुआ है।

मकरध्वज पारे का गंधिद है Sulphide उसमें पारे के सब दोष निकल जाते हैं। वह मनुष्य शरीर संस्थान के लिये ग्राह्य बन जाता है। योरोपीय पद्धति द्वारा बने हुए मकरध्वज में वह गुण नहीं है। स्वर्ण और लोहे की भस्में तैयार हुईं। महर्षि पतंजलि ने भी लोह भस्म तैयार करने में सिद्धि प्राप्त की थी। उनका लिखा हुआ लोह शास्त्र बतलाया जाता है। उन्होंने पाणिनि व्याकरण का भाष्य लिखकर भाषा की शुद्धि की और योग सूत्र लिखकर मन की शुद्धि की 'योगेन चित्तस्य पदेन वाचा मलं शरीरस्य च वैद्यकेन योऽपाकरोत्......

हमारे आयुर्वेदाचार्य पारे से सिन्दूर बनाना ही नहीं जानते थे वरन् वे विद्याधर यन्त्र द्वारा सिन्दूर से फिर पारा बनाने के भी क्रिया जानते थे। वे क्षारों का भी प्रयोग जानते थे। मृदु क्षारों को वे तीव्र बना सकते थे। वे धातु विद्या में निपुण थे। कुतुब मीनार के पास जो लाट पृथ्वीराज की कीली के नाम से प्रसिद्ध है धातु विद्या विज्ञान का अच्छा प्रमाण-पत्र है। इस सम्बन्ध में वास्तु कला पंडित फर्गुसन की निम्नलिखित पंक्तियां विशेष महत्व की हैं:—

'Taking 400 A. D. as the mean date—and it certainly is not far from the truth, it opens our eyes to an unsuspected state of affairs to find the Hindus at that age capable of forgoing a bar of iron longer than any that have been forged even in Europe up to a very late date, and not frequently even now ?

अर्थात चारसो ईसा पश्चात को एक मध्य तिथि मानने पर और वह तिथि सत्य से बहुत दूर भी नहीं है, यह कीली या स्तम्भ हिन्दुओं की तत्कालीन अप्रत्याशित विकासावस्था के सम्बन्ध में हमारा नेत्रोन्मीलन करती है। यह जानकर आ-

श्चर्य होता है कि उस युग में हिन्दू लोग इतनी लम्बी (यह खम्बा २४ फुट और बोझ में ६ टन का है) कीली को, जो यरोप में बहुत पीछे काल तक नहीं बन सकी और अब भी कभी-कभी ही बन सकती है, बनाने में वे समर्थ हुए।

आयुर्वेद में केवल मनुष्यों की ही चिकित्सा नहीं होती थी वरन् अश्व और गजों के भी अलग-अलग आयुर्वेद प्रसिद्ध हैं। शालिहोत्र ऋषि ने अश्वों का आयुर्वेद शास्त्र लिखा है। इसी लिये आज भी घोड़ों के चिकित्सक शालिहोत्री कहलाते हैं। पाल काप्य ने गजायुर्वेद शास्त्र लिखा। प्राचीन आयुर्वेदाचार्यो ने कुष्ट तथा मोतीझला, चेचक, आदि रोगों के सम्बन्ध में कीटाणुओं का भी उल्लेख किया है। वे रुधिर में भी कीटाणुओं का अस्तित्व मानते थे। हमारे यहाँ आयुर्वेदाचार्य दन्त चिकित्सा में भी निपुण थे। वे पाइयोरिया जिसको वे उपकुश कहते थे और दान्त के कीड़े के रोग से, जिनको वे कृमि दन्तक कहते थे परिचित थे। वे दान्तों के टारटर (Tarter) को जिसको दन्त शर्करा कहते थे खुरचने और साफ करने की विधि भी जानते थे। इसके लिए उनके पास यंत्र भी था। वे दन्त उखाडना भी जानते थे। प्राचीन लोग कृत्रिम दन्त भी लगाते थे। एलफिन्सटन के इतिहास पृष्ठ ३६५ में लिखा है कि रण भूमि में जयचन्द का शव उसके कृत्रिम दान्तों से पहचाना गया था।

भौतिक विज्ञान और रसायन शास्त्र में भी प्राचीन लोगों ने इतनी उन्नति तो नहीं की थी जितनी कि ज्योतिष में किन्तु उन्होंने अणु और परमाणु की कल्पना कर ली थी वैशेषिक दर्शन परमाणुओं को मानता है। प्राचीन ऋषियों ने जो पंच तत्व माने थे वे आज कल के से तत्व न थे वरन् वे वस्तुओं की मूल भौतिक दशाएँ थीं। हमारे दार्शनिकों ने पंच तात्त्वों को पंच ज्ञानेन्द्रियों से सम्बन्धित किया था।

वनस्पति शास्त्र—हमारे यहाँ वनस्पति शास्त्र आयुर्वेद का एक अङ्ग था। आयुर्वेद के अङ्गरूप में तथा स्वतंत्र रूप में भी वनस्पति शास्त्र का अध्ययन हुआ क्योंकि वनस्पति शास्त्र पर आयुर्वेद के अतिरिक्त कृषि विद्या, उद्यान विद्या आदि निर्भर थीं। काम सूत्रों में राजाओं और गृहस्थों के प्रासादों और घरों में

उद्यानों का होना विदग्धता का सूचक माना गया है। प्राचीन लोगों ने वनस्पतियों के जीवन तत्वों का पूर्णतया अध्ययन किया था। वृक्ष के लिये पादप शब्द का व्यवहार इस बात का द्योतक है कि वे जानते थे कि वृक्ष अपने जीवन रस को जड़ों से ग्रहण करता है। वे उसके ऊपर उठने की बात भी जानते थे। शान्ति पर्व में बतलाया है कि जिस प्रकार पानी कमल नाल द्वारा मुंह से ऊपर को चूसा जाता है उसी प्रकार वायु के सहारे रस ऊपर उठता है और पत्तियों में पहुंचता है और वहाँ अग्नि (सौर शक्ति) और वायु द्वारा उसके भोजन में परिवर्तित होकर पचता है। वे लोग वृक्षों में चेतना मानते थे। वनस्पतियों के उत्पादन की जितनी विधियां है उनसे वे पूर्णतया अवगत थे। उत्पत्ति के आधार पर वनस्पितियों का एक प्रकार का विभाजन किया गया है। बीजरुह (बीज से उत्पन्न होने वाली), मूलज (जिनकी जड़ें लगाई जाती हैं), स्कन्धज (जिनकी टहनी लगाई जाती है), स्कन्धेरोपनीय (जिसमें कलम बांधी जाती हैं), पर्णयोनी (जिनकी पत्ती लगाई जाती है), वे लोग वृक्षों में किसी न किसी प्रकार का योनि भेद मानते थे। वृक्षों का नामकरण भी उनका बड़ा वैज्ञानिक था। कुछ वनस्पतियों के नाम उनके औषधीय गुणों पर रखे जाते थे। दद्रुघ्न, अर्शोघ्न, कुछ के विशेष गुणों के आधार पर जैसे रीठा के लिये फेनिल, कुछ का बनावट के आधार पर जैसे त्रिपत्र, कीशपर्णी, पंचागुल, हेम पुष्प, सतमूली, सत पर्जिका। वनस्पतियों के नामकरण के सम्बन्ध में सर विलियम जोन्स का लिखना है "Lenneus himself would have adopted them had he known the learned and ancient language of this Country."

अर्थात स्वयम् लेन्युस ने इस प्रकार का नाम करण अपनाया होता यदि वह इस देश की विद्वत्तापूर्ण प्राचीन भाषा से परिचित होता।

इस प्रकार प्रायः सभी विज्ञानों में हमारे प्राचीन मनीषियों ने उन्नति की थी। वे पशु चिकित्सा ही नहीं पशुओं का—पालतू जानवरों का ही नहीं हिंस्र पशुओं

का भी वर्गीकरण करते थे। वे यंत्र विद्या में भी पर्याप्त उन्नति कर चुके थे। नाना प्रकार के यंत्रों का उल्लेख आता है। तोप आदि घातक यंत्र भी वे बनाते थ और वे किसी न किसी प्रकार वे वायुयान भी बनाते थे। लेकिन कई कारणों से उनका उन्नति क्रम रुक गया था, इससे वें हमारे पूर्वज पश्चिमी देशों की अपेक्षा पिछड़ गये।

———



प्राचीन राज-व्यवस्था

दण्ड नीति–हमारे यहाँ चार विद्याओं को मुख्यता दी गई है—आन्वीक्षिकी (दर्शन, आदि) त्रयी (वेदादि) वार्ता (कृषि, पशु-पालन, वाणिज्यादि विज्ञान) दण्ड के अधीन ही तीनों विद्याओं का पोषण और परिवर्द्धन होता है। दण्ड को ही समाज का रक्षक माना है। इसके द्वारा ही अप्राप्त की प्राप्ति, प्राप्त का परिरक्षण, परिरक्षित का परिवर्द्धन और परिवर्द्धित का सदुपयोग और तीर्थादि में वितरण सम्भव है। सारी समाज की व्यवस्था दण्ड पर आश्रित है।

चातुर्वर्ण्ये स्वकर्मस्थे मर्यादानामसंकरे।
दण्डनीतिकृते क्षेपे प्रजानामकुतोभये।

महाभारत, शनि पर्व ६९। ७७

दण्ड के द्वारा चारों वर्ण अपने अपने कर्म में लगे रहकर मर्यादाओं का मिश्रण या उल्लङ्घन नही होने देते थे। दण्ड नीति के द्वारा जो क्षेम अर्थात संरक्षण रहता है उसके कारण प्रजागण निर्भय हो जाते हैं। अर्थात हर एक आदमी अपना अपना काम बिना किसी वाधा के कर सकता है और अपनी सम्पत्ति का उपभोग भी निर्भय होकर कर सकता है।

यह दण्ड जिसकी इतनी महिमा बताई गई है राजव्यवस्था पर आश्रित है। राज्य का अधिकार उसकी इकाई के प्रतीक राजा में अथवा उसके चुने हुए प्रतिनिधियों में रहता है। राजा या प्रतिनिधियों के द्वारा नियुक्त अधिकारी ही दण्ड दे सकते हैं। राजा को भी दण्ड का प्रयोग शत्रु और पुत्र में समान रूप से करना चाहिए-'राजा पुत्रे च शत्रौ च यथादोषं समंधृतः (अर्थशास्त्र- अधि० ३ अ०१) व्यक्ति व्यक्ति को दण्ड नहीं दे सकता है। व्यक्ति का दण्ड नहीं वरन प्रतिशोध कहलाता है। दण्ड नीति के आदि आचार्य ब्रह्मा माने जाते है। उनका ही आधार लेकर अन्य नीतिकार जिनमें वृहस्पति, शुक्र, विदुर, भीष्म, मनु, वशिष्ठ,

याज्ञवल्क्य, हारीत, चाणक्य, विष्णु शर्मा (पंचतंत्र के कर्त्ता, कौटिल्य, कामदक) आदि प्रमुख है।

राजा की उत्पत्ति–यद्यपि प्राचीन भारत में राजतंत्र का प्राधान्य रहा है और राजाओं को ईश्वर का रूप माना गया है (श्रीमद्भगवतगीता में भगवान कृष्ण ने कहा है) कि मनुष्यों में मै राजा हूँ–'नराणां च नराधिपः' तथापि राजसत्ता की स्थापना में प्रजा का भी थोड़ा बहुत हाथ रहा है। मनुष्यों में जब मात्स्य न्याय का (अर्थात जैसे बड़ी मछलियां छोटी मछलियां खा जाती हैं) वैसे ही मनुष्यों में शक्तिशाली लोग कम शक्तिशाली लोगों को सताते और नष्ट कर देते हैं। अधिक हो गया तब मनुष्यों ने उस अराजकता की दुर्व्यवस्था से तंग आकर ईश्वर से प्रार्थना की कि उनको कोई राजा दिया जाय अथवा उन्होंने स्वयं ही चुना। शक्तिपर्व के सड़सठवे अध्याय में यधुष्ठिर के प्रश्न करने पर भीष्म पितामह ने राजा की स्थापना की कथा इस प्रकार सुनाई :–

'हमने सुना है कि राजाहीन प्रजा जिस प्रकार जलमें मोटी मछली पतली मछली को नष्ट कर देती है उसी प्रकार शक्तिशाली लोगों के निर्बलोंके मार डालने से नष्ट हो गई। इस लिये आपस में सलाह करके लोग ब्रह्माजी के पास पहुँचे और उनसे कहा कि राजा के न रहने से हमारा दुखबढ़ रहा है, इस कारण आप हमको एक प्रभू या राजा दीजिये उसके बिना हम मर जायंगे हम उसकी पूजा करेंगे र वह हमारी रक्षा करेगा। तब उन्होंने मनु को बतलाया और प्रजा ने मनु का अभिनन्दन किया। मनु ने पहले तो इस भार के सम्हालने से इन्कार किया उन्होंने कहा कि वे इस पाप कर्म से डरते हैं क्योंकि राजधर्म का चलाना विशेषकर मनुष्यों में जो नित्य मिथ्याचार करते हैं राज धर्म चलाना बहुत कठिन है। तब उनको हर प्रकार का आश्वासन दिया गया और उनसे कहा गया कि हम लोग आप के खजाने की वृद्धि के लिये अपने पशुओं और स्वर्ण का पचासवां भाग और धान्य का दसवां भाग देंगे, आप हमारी रक्षा करें।'

एतरेय ब्राह्मण में कहा गया है कि देवता लोग असुरों से हारने लगे तब उन्होंने सोम को राजा निर्वाचित किया। मनु महाराज के अनुसार अराजकता के कारण सब उलट-पुलट हो जाने के भय से भगवान ने पहले ही राजा की सृष्टि कर दी। इससे भी यह प्रतीत होता है कि पहले भी कुछ दिनों अराजकता रही होगी। इस प्रकार हम देखते हैं अव्यवस्था से ही व्यवस्था आई। वेदों और वाल्मीकीय रामायण में 'राजकर्त्तार:' शब्द आया है। वे राजाओं को चुनने वाले होते थे या इस बात का निर्णय देते थे कि कौन राजा हो। राजा दशरथ की मृत्यु के पश्चात राजकर्त्ता और द्विजातियों का आह्वाहन हुआ था। 'समेत्य राजकर्त्ता समायीयु: द्विजातया:' महाराज दशरथ ने रामचन्द्र जी को युवराज पद पर अभिषिक्त करने से पूर्व प्रजाके लोगों की सम्मति लेने को बुलाया था जिससे पीछे कोई झगड़ा न उठ खड़ा हो। प्रजा के अधिकार क्रमश:शिथिल होते गये। अधर्म करने पर राजा बेन को ऋषियों ने मंत्रों द्वारा पवित्र किये हुए कुशों से मार डाला। उसके दाहिने हाथ को मथ कर राजा पृथु को निकाला। वह बड़ा न्यायी राजा हुआ। पृथ्वी शब्द ही पृथु से बना है। बेन के अतिरिक्त अन्य राजाओं के जैसे नहुष, सुदास, यावनि, सुमुख और निमि के नष्ट होने का उल्लेख मनुस्मृति में आता है:—

वेणो विनष्ठोऽविनयान्नहुषचैव पार्थिव:।
सुदासो यावनिश्चैव सुमुखो निमिरेव च ।।

इसलिये राजा के लिये विनय और शील अत्यन्त आवश्यक माने गये हैं। ऐतिहासिक काल में भी प्रजा द्वारा राजालोग राज्य च्युत किये गये हैं। सन् ६०२ ईसा पूर्व में नरादिशक को प्रजा ने निकाल वाहर किया था क्योंकि वह पितृहन्ता था। अन्तिम मौर्य सम्राट वृहद्वल (ईसा पूर्व १९१-८५) को प्रतिज्ञा क्षीण होने के कारण मार डाला था।

इससे ज्ञात होता है कि अन्यायी राजा को पदच्युत करना और न्यायी को पोषण देना प्रजा के हाथ में था। राजा के प्रजा द्वारा निर्वाचित होने के कुछ

ऐतिहासिक उदाहरण भी मिलते हैं। सन् १२५-५० ईसा पूर्व रुद्रदामा का प्रजा द्वारा राजपद पर निर्वाचित किये जाने का उदाहरण मिलता है। राज्य वर्द्धन की मृत्यु पर उसके प्रधान मंत्रि मंडल ने मंत्रियों की परिषद बुला कर निश्चय किया था कि राजा का भाई हर्षवर्द्धन राज सिंहासन पर आसीन किया जाय।

राजा के गुण–राजा से जो सबसे पहिली बात अपेक्षित है वह जितेन्द्रियता है। जो राजा इन्द्रियों को वश में नही रख सकता है वह शत्रुओं पर भी विजय नहीं पा सकता है। –'अजितात्मा नरपतिर्विजयते कथं रिपुम्'। राजा षड्वर्ग रिपुओं से (काम, क्रोध, लोभ, मद, मान, दर्प) बचने के लिये कहा गया है। राजा नितान्त स्वेच्छाचारी नहीं होता था। उसको निष्पक्ष रूप से न्याय करना पड़ता था। जैसा पहले कहा जा चुका है कि उसको शत्रु और पुत्र को दोषों के अनुकूल एकसा ही दण्ड देना पडता था। किरातार्जुनीय में यधुष्ठिर के गुप्तचर ने उन्हें संवाद दिया कि राजा दुर्योधन अपने राज्य को स्थिर करने के लिये प्रजा के साथ पूरा पूरा न्याय करता है। न्याय में न वह धन प्राप्ति का ख्याल करता है और न अपने निजी क्रोध का। बिना किसी बाहरी कारण के बिना वशी अर्थात इन्द्रियजित होकर, केवल कर्त्तव्य वुद्धि से पुत्र और शत्रुको जैसा गुरु लोग या न्यायाधीश कहते हैं उसके अनुकूल बिना किसी पक्षपात या द्वेशके दण्ड देकर धर्म विप्लव अर्थात अनीति और अन्याय को रोकता है।

वसूनि वाञ्छन्नवशी न मन्युना
स्वधर्म इत्येव निवृत्त कारणः
गुरुपदिष्टेन रिपौ सुतेऽपि वा
निहन्तिदण्डेन स धर्म विप्लवम्।
किरातार्जुनीय १।११३

राजा स्वयं भी न्याय के शासन से मुक्त न था। उसके लिये मनु महाराज ने एक हजार गुना अर्थ दण्ड (जुर्माना) बतलाया है।

कार्षापणं भवेदण्ड्यो यत्रान्य प्रकृतोजनः
तत्र राज भवेदण्ड्यः सहस्रमिति धारणा । मनु ८ । ३३६

राजा को मंत्रियों की सलाह से बन्धा रहना पड़ता था । मंत्रियों और राजा की पारस्परिक अनुकूलता में ही राजा की सफलता रहती है । किरातार्जुनीय में ठीक ही कहा है

स किं सखा साधु न शास्ति योऽधिपं।हितान्न य संश्रृणुते स किम्प्रभुः ।
सदानुकूलेषु हि कुर्वते रति । नृपेष्वमात्येषु सर्ब सम्पदः ।।

अर्थात वह सखा क्या जो राजा को ठीक सलाह न दे और वह राजा ही क्या जो उस सलाह को न माने । मंत्रियों और राजाओं की परस्परानुकूलता में ही सब सम्पदाएँ रति मानती है अर्थात वहाँ प्रसन्न होकर रहने लगती है । मंत्रियों को राजाके दान आदि को शासित करने का अधिकार था । सर्व प्रभुत्व सम्पन्न सम्राट अशोक की भी अतिदान शीलता पर मंत्री लोग ब्रेक लगा देते थे । राजाको मंत्रियों की सलाह से काम करने की आज्ञा थी, वह केवल स्वमत से नहीं चल सकता था । उसके लिये शास्त्र का आदेश था कि वह चाहे जितना विद्वान और मंत्रणा में कुशल क्यों न हो मंत्रियों की सलाह के बिना अकेला अर्थ चिन्तन न करे । वह सदा सभ्य, अधिकारी, प्रकृति* और सभासदों के मतानुसार काम करे । कभी केवल अपने मत सें न चले ।

सर्व विद्यासु कुशलो नृपो ह्यपि सुमंत्रवित् ।
मंत्रिभिस्तु विना मंत्र नैकोर्थं चिन्तयेत्क्वचित् ।।
सभ्याधिकारि प्रकृति-सभासत्सुमते स्थितः ।
सर्वदा स्यान्नृपः प्राज्ञः स्वमते न कदाचन् ।

शुक्र नीति सार अध्याय २

*राज्य की मनु महाराज ने सात प्रकृतियां मानी है । ये हैं स्वामी व राजा आमात्य (मंत्री) पर राष्ट्र, कोश, दण्ड, मित्र। कामन्दकीय नीतिसार में आमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोश और दण्ड को राजा की प्रक्रति माना है ।

शुक्र नीतिसार का तो यहाँ तक कहना है कि राजा के जो सेवक हों वे भी मंत्रियों की राय से रखे हुए हों। 'भूपते सेवका ये स्युस्ते स्युः सचिवसम्मता।' मंत्रियों के प्रति उत्तरदायित्व के साथ प्रजा के प्रति भी उसका उत्तरदायित्व रहता था। अभिषेक के समय राजा यह स्वीकार करता था कि प्रजा में ही राजा की प्रतिष्ठा है। विशि राजा प्रतिष्ठितः (शुक्र यजु)

शत पथ ब्राह्मण में लिखा है कि प्रजा के अनुमोदन से राजा राजसूय करता था। (ताभिरनुमतःसूयते,यस्मै वै राजा,नो राज्यमनुमन्यते स राजा भवति न सःयस्मैन) राजा रथ बनाने वाले कर्मकारों, धातु की बस्तुओं आदि के बनानेवालों के हाथ से (पलाश का पत्ता) राज चिन्ह के स्वरूप में ग्रहण करता था और पर्ण से वह उन सब को अपने अनुकूल बनाये रखने की प्रार्थना करता था। इस प्रकार देखा जाता है कि प्रजा से ही जिसमें निम्न वर्ग भी शामिल थे राजा को राज सत्ता प्राप्त होती थी। राजाओं की कई श्रेणियाँ होती थी। शुक्र नीति सार के अनुसार वे इस प्रकार हैं:—सामन्त, माण्डलिक, राजा, स्वराट, सम्राट विराट अथवा सार्वभौम। ये श्रेणियां आय और स्वाधीनता की मात्रा पर निर्भर रहती थी। सामन्त की आय एक से तीन लाख तक होती थी। वह राजा के अधीन होता था। माण्डलिक सामन्त से बड़ा होता था लेकिन उसके अधीन कोई नहीं होता था। उसका अधिकार राजा के बराबर होता था। माण्डलिक की आय चार से दस लाख तक होती थी। राजा की दस से बीस लाख तक आय होती थी। जिसकी आय बीस से पच्चीस लाख तक हो वह महाराज,पचास लाख से एक करोड़ की आय वाला सम्राट, पचास करोड़ की आय वाला विराट कहलाता था। जो सप्तद्वीपा पृथ्वी पर राज्य करता था वह सार्वभौम कहलाता था।

मंत्रियों की परिषद-मंत्रि या आमात्य के निम्नोल्लिखित कार्य बतलाये गये हैं। स्वामि रक्षा, तंत्र पोषण अर्थात देना आदि का ठीक रखना, आयोव्ययः स्वामि-रक्षा तंत्र पोषण आमात्याधिकारः। मंत्रियों की संख्या के सम्बन्ध में भिन्न भिन्न आचार्यों के भिन्न भिन्न मत हैं। मनु के पक्ष समर्थक मंत्रि परिषद में बारह मंत्रियों

का होना आवश्यक बताते हैं। शुक्र नीति के मानने वाले के मत में यह संख्या बीस होनी चाहिये। कौटिल्य ने कहा है कि जितने मंत्री आवश्यक हों रखे जायं। मंत्रियों के अलग अलग कार्यों के अनुकूल नाम होते थे। प्रतिनिधि का कार्य राजा का कर्तव्य और अकर्तव्य की ओर ध्यान आकर्षित करते रहना था। प्रधान आज कल के मंत्री की भांति सब कार्यों की देख भाल करता था। इसका अधिकार फौज के सब अङ्गों, हाथी, घोड़े, ऊँट आदि और युद्ध सामिग्री पर था। सचिव का कार्य सेना की व्यवस्था करना होता था। मंत्री राजा को साम दाम दण्ड और भेद की नीति में परामर्श देता था और संधि और विग्रह (युद्धादि) के सम्बन्ध में भी नीति निर्धारित करता था। प्राडविवाक प्रधान न्यायाधीश और कानूनी और धार्मिक सलाहकार के रूप में होता था। सुमंत्र आय व्यय का लेखा रखने वाला वित्त मंत्री की भांति होता था। भूमि आदि की जानकारी और व्यवस्था रखने वाला मंत्री आमात्य कहलाता था। खानों आदि का और खजाने की वास्तविक स्थिति भी इसे मालूम रहती थी। देश काल के अनुकूल परराष्ट्रों के सम्बन्ध में सलाह देने वाला दूत कहलाता था। भिन्न भिन्न नीति ग्रन्थों में ये नाम कुछ हेर-फेर के साथ दिये गये हैं। कौटिल्य ने प्रधान को महा-मंत्री कहा है इन्हीं मंत्रियों के साथ पुरोहित का भी कहीं-कहीं विधान है। कौटि-ल्य ने पुरोहित को राजा का पितृ स्थानीय कहा है जिस प्रकार पुत्र पिता का आ-देश मानता है उसी प्रकार राजा पुरोहित की सलाह माने। वह केवल धर्माधिकारी ही नहीं होता था वरन् नीति निपुण और द्रोणाचार्य की भांति युद्धकुशल भी होता था। युवराज भी इस मंत्रि परिषद में बैठता था। राजा इन सबके बहुमत से काम करता था।

'आत्यधिके कार्ये मंत्रिणो मंत्रिपरिषदं चाहूय ब्रूयात।
तत्र यद् भूषिष्ठाः कार्यसिद्धकरं वा ब्रूयुस्तत्कुर्यात्' ॥

यह अर्थशास्त्रका का मत है।

अन्य अधिकारीगण—मंत्रियों के पश्चात सबसे बड़ा अधिकारी सन्निधाता होता था और उसकी बराबरी का दूसरा अधिकारी समाहर्ता होता था। सन्निधाता राज्य का प्रधान कोषाध्यक्ष और समाहर्ता प्रधान संग्रहकर्त्ता होता था।

कौटिल्य की व्यवस्था के अनुसार इन दोनों के नीचे कई कई विभाग होते थे और उनके पृथक पृथक अध्यक्ष होते थे। जैसे सन्निधाता के अधीन कोशाध्यक्ष (स्टोर्स का सुप्रिटेन्टेन्ट) कोष्ठागाराध्यक्ष (कोठार या खाद्य पदार्थों के संग्रहालय का अध्यक्ष) कुप्याध्यक्ष (जंगली वस्तुओं के संग्रहालय का अध्यक्ष आयुधागाराध्यक्ष, प्राकाराध्यक्ष (खानों के अध्यक्ष) तथा वन्धकाराध्यक्ष (जेलों का व्यवस्थापक) समाहर्ता के अधीन निम्नलिखित विभाग और उनके अध्यक्ष होते थे। शुल्काध्यक्ष (कस्टम आफीसर), सूत्राध्यक्ष (सूत का अफसर), सुराध्यक्ष (आबकारी के प्रधान) सूनाध्यक्ष (कसाई खाने का अध्यक्ष सीताध्यक्ष (कृषि विभाग के अध्यक्ष) नावाध्यक्ष (वन्दरगाहों के अफसर विवीताध्यक्ष (गोचर भूमि के अध्यक्ष) पौतवाध्यक्ष (बाटों और मापों की देख रेख करने वाला) देवताध्यक्ष (देवालयों के अध्यक्ष कौटिल्य के अर्थशास्त्र में इन विभागों का विस्तृत वर्णन है। नहरों कुल्यांओं की व्यवस्था का, खानों के प्रवन्ध का, सड़कों के प्रबन्ध का और उसके साथ नाना प्रकार की सड़कों का, जैसे रथों की की अलग, जानवरों की अलग विवरण आया है। उस समय जन गणना की भी व्यवस्था थी। उसके सम्बन्ध में नगर और गाँव के अलग अफसर होते थे। उनके इन्सपेक्टर भी होते थे जिनको वे प्ररेष्ठा कहते थे। ये सब समाहर्ता के अधीन थे। जानवरों की भी वर्ग वार गणना रहती थी। रोगों की रोकथाम की भी व्यवस्था थी। मृत्यु के कारणों को जानने के लिये आशुमृतक परीक्षा (पोस्ट मारटम) भी होता था। आज कल की सी पूर्ण शासन की व्यवस्था चन्द्रगुप्त के समय में थी।

गणतन्त्र शासन—गणराज्य प्रायः राजा हीन प्रजातंत्र राज्यों के लिये प्रयुक्त होता था। वे संघ भी कहलाते थे। महाभारत में हमको गणतंत्र राज्यों का उल्लेख मिलता है उनके सदस्यों के सम्बन्ध में शान्ति पर्व में लिखा है 'जात्या च सदृशाः सर्वेकुलेन सदृशास्तथा'। ये गण। इन लोगों में यदि फूट पड़ सकती है तो दान से और भेद से 'भेदाच्चै प्रदानञ्च भिद्यन्ते रिपुभिर्गणाः शाक्य सिंह भगवान बुद्ध के समय (ईसा पूर्व ६३०-५४३) वज्जि लोग बड़े शक्ति शाली

गण थे। विदेह लोग जो राजतंत्र के मानने वाले थे वेशाली के लिच्छवियों तथा अन्य राज्यों के साथ वज्जियों के गण राज्य में शामिल हो गये थे। महापरिनिब्बाल सूत्तान्त से ज्ञात होता है कि अजातशत्रु ने भगवान बुद्ध से वज्जियों पर आक्रमण करने के सम्बन्ध में परामर्श किया गया। भगवान बुद्ध ने अपने प्रिय शिष्य आनन्द से पूछा कि वज्जि गण अपनी जाति की सभाओं में एकत्रित होते हैं। आनन्द के अस्तिवाचक उत्तर पाने पर भगवान बुद्ध ने कहा कि जब तक लोग सभाओं में एकत्रित होते हैं, सलाह के साथ रहते हैं, जब तक वे अपने बड़ों का आदर करते हैं तब तक वे अजेय रहेंगे। यदि वे जीते जा सकते हैं तो भेद से ही जीते जा सकते हैं। अजातशत्रु के मंत्रि वर्षकार की भेद नीति से वे पराजित हुए। सिकन्दर के आक्रमण के समय आरट्ट (अराष्ट्रक अर्थात राजा को न मानने वाले) क्षुद्रक, क्षत्तिय और मालव। आरट्ट गण राज्य ने सिकन्दर के विरुद्ध चन्द्रगुप्त मौर्य की सहायता की थी। कुछ गणतंत्रों के प्रधान राजा कहलाते थे। गण तंत्रों का शासन बहुमत से होता था। मतदान के लिये रंग विरंगी शलाकाएँ काम में लाई जाती थी। गुप्त मतदान भी होता था और प्रकट भी। जनतंत्र भारतीय संस्कृति के लिये नई वस्तु नहीं है।